जलवायु संकट

देशज समाधान

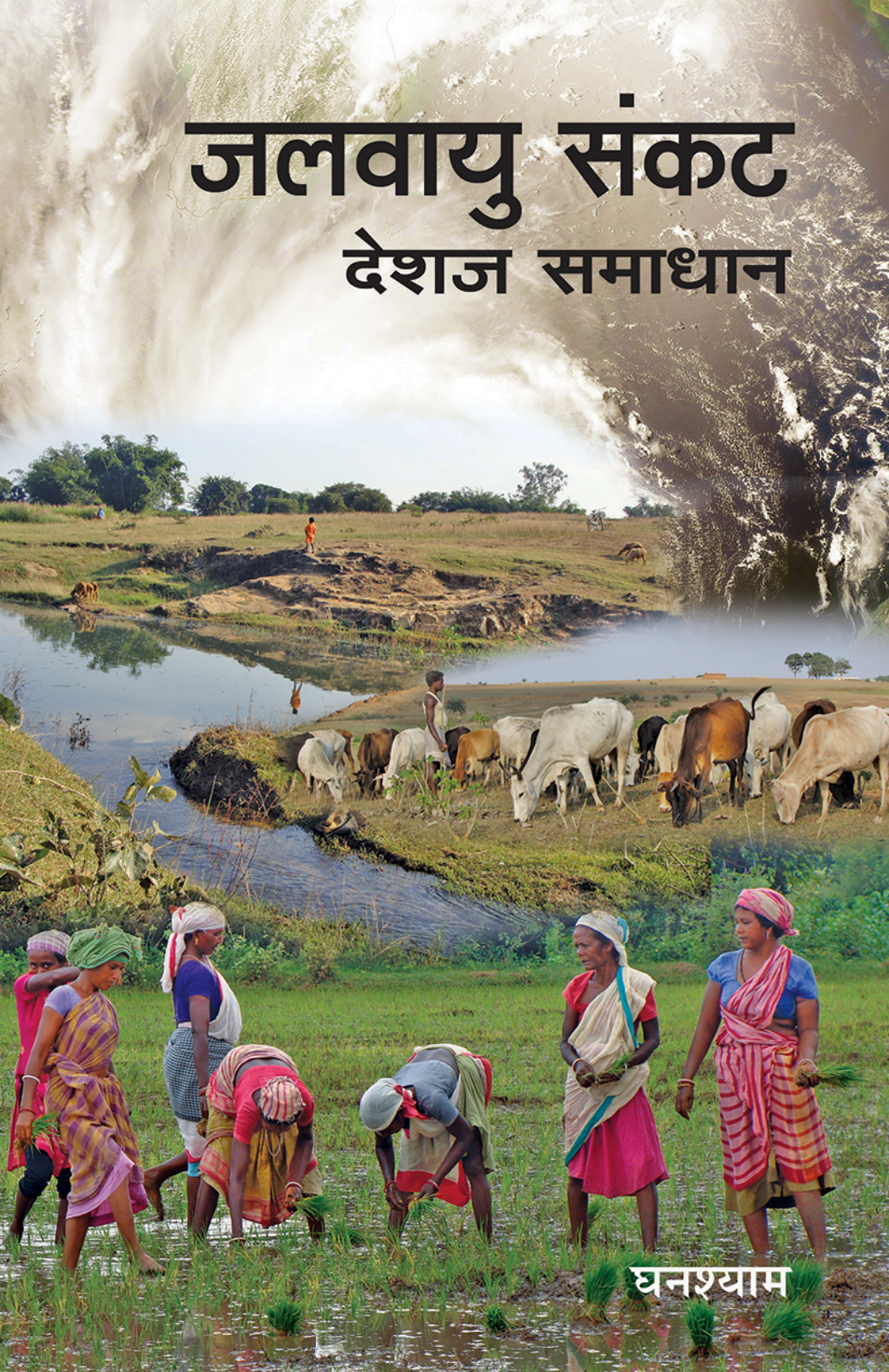

घनश्याम

जलवायु संकट : देशज समाधान

घनश्याम

संवाद
उर्मिला इल्क्लेव, पीस रोड
लालपुर, रांची - 834001

द्वितीय संस्करण : 2024

शब्द संयोजन : सीमांत सुधाकर

डिजाइन : इंडिजिनोग्राफिक्स

प्रकाशक : संवाद, उर्मिला इन्कलेव, पीस रोड, लालपुर, रांची - 834001

प्रसार कार्यालय : 52 बीघा, मधुपुर - 815353, देवघर

Website:www.samvad.net • E-mail:sarjomsamvad@gmail.com

मुद्रक : आई.डी. पब्लिशिंग, रांची

Jalwayu Sankat:Deshaj Samadhan

by Ghanshyam

केवल सीमित वितरण के लिए

जोहार!

जलवायु संकट आज की दुनिया के बड़े संकटों में से एक है। इसके समाधान के लिए पूरी दुनिया की सरकारें, यू.एन. जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं तथा अन्य स्वैच्छिक संस्थाएं न सिर्फ चिंतित हैं बल्कि चिंतनरत भी हैं। चिंतन का यह दौर पिछले ढाई दशक से जारी है बावजूद इसके संकट घटने के बदले बढ़ता ही जा रहा है। क्यों हो रहा है ऐसा? क्या चिंतन की दशा और दिशा में कहीं दोष तो नहीं है? प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व यह विचार करना जरूरी लगता है कि जलवायु संकट के लिए जिम्मेवार कारकों को क्या हमने पहचानने की कोशिश की है? क्या महज विकसित देशों के नजरिये और कथित वैज्ञानिक ढंग से देखने को पहचानना माना जाएगा या फिर इसे और गंभीरता से समझने की जरूरत है?

अमूमन यह माना जाता है कि जलवायु परिवर्तन के मुख्य कारक हैं- प्रकृति और मानव। प्राकृतिक कारकों में महाद्वीपों का खिसकना, ज्वालामुखी का फटना, समुद्र की तरंगें और सृष्टि की धूरी में हो रहे परिवर्तन इत्यादि प्रमुख हैं। इसी प्रकार मानवीय कारकों में बढ़ता औद्योगीकरण, ऊर्जा की बढ़ रही बेतहाशा खपत, वनों व पौधों की संख्या में गिरावट, जनसंख्या वृद्धि, भूमि के उपयोग में बदलाव, परमाणु शस्त्रों और परमाणु ऊर्जा की होड़ इत्यादि प्रमुख हैं। लेकिन उक्त तमाम कारकों के अलावे जो सबसे महत्वपूर्ण मानवीय कारक हैं, वे हैं- विकास की विनाशकारी अवधारणा तथा जीवन-चक्र और जीवन मूल्यों में आ रही गिरावट इन्हें नजरअंदाज किया जाता रहा है। शायद ऐसा जानबूझकर किया जाता है। क्योंकि आज के जो भी मानवीय कारक जिम्मेवार हैं जलवायु संकट के लिए, उनके केन्द्र में हैं- विकास की विनाशकारी सोच, विध्वंसकारी तकनीक, शोषणकारी प्रक्रिया और भोगवादी जीवन शैली। उक्त

कारकों ने प्रकृति और इंसान को गुलाम बनाने और उन्हें उपभोग की वस्तु बना देने की जो सोच विकसित की, जिसने हमें यहां ला खड़ा किया। प्रकृति के अंधाधुंध दोहन और मनुष्य तथा मनुष्येत्तर प्राणी के अधिकाधिक शोषण पर विकास की बुनियाद रखी गई-जिससे उपजे सामंतवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और नवसाम्राज्यवाद। इन 'वादों' के जकड़न और अकड़न ने इंसान और इंसानियत को महज प्रकृति से विस्थापित नहीं किया, बल्कि मानवीय मूल्यों से भी उद्‌वासित कर दिया। परिणामतः आज जिन ज्वलंत समस्याओं का हम सामना कर रहे हैं उनमें जलवायु संकट सबसे ज्वलंत समस्या है।

इस समस्या को 'आम आदमी' की नजर से तथा उसकी व्यथा को समझने का एक छोटा प्रयास इस पुस्तिका के कुछ आलेखों में किया गया है। 'अनुभव से उपजे ज्ञान' का यह एक दस्तावेज है-जिसे 'देशज ज्ञान' कहा जा सकता है। इन आलेखों के माध्यम से यह बतलाने और जतलाने की विनम्र कोशिश की गई है कि जलवायु संकट को आम आदमी की व्यथा ध्यान में रख कर समझने की पहल हो। महज उन्नत विज्ञान और वैज्ञानिक भाषा तथा अभिजात्य लोगों के नजरिये से इसे न समझा जाए। क्योंकि जलवायु संकट से सबसे ज्यादा परेशान अगर कोई हो रहा है तो वह-'आम जन' ही है। इसलिए 'आम जन' और 'अंतिम जन' के नजरिये से समझकर ही इसका समाधान ढूंढा जा सकता है। इसमें संग्रहित सभी आलेख इसी ओर इशारा करते हैं।

इस पुस्तिका-निर्माण में जिन साथियों ने योगदान दिया है, उन सभी साथियों को जोहार!

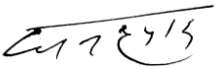

अनुक्रम

जैविक खेती की उपेक्षा यानी आ बैल मुझे मार : 7

जलवायु संकट : विकल्प देशज खेती : 10

आजीविका की देशज अवधारणा : संकट का विकल्प : 13

जल-प्रबंधन का लोक-विज्ञान : एक समाधान : 17

खाद्य सम्प्रभुता : समय की मांग : 23

पानी-पानी, अपना पानी सबका पानी : 31

कोपेनहेगन सम्मेलन : विफलता के बीच सफलता की कहानी : 35

कोपेनहेगन में उभरा समुदाय का स्वर : 38

कोपेनहेगन : समुदाय का स्वर और राष्ट्राध्यक्षों की जुगाली : 41

जलवायु संकट : एक मालधारी की समझ : 44

जैविक खेती की उपेक्षा यानी आ बैल मुझे मार

आज पूरी दुनिया भयंकर खाद्य संकट और जलवायु संकट के दौर से गुजर रही है। एक तरफ इसके लिए सत्ताधीश चिंतित हैं तो दूसरी तरफ समाज नवनिर्माण की प्रक्रिया में लगे सक्रियकर्मी न सिर्फ चिंतन कर रहे हैं, बल्कि जमीनी प्रयोग करने की दिशा में सक्रिय हैं। इसके लिए यह जरूरी है कि उक्त दोनों संकट की गंभीरता और उससे उबरने के उपाय पर मौलिक चिंतन किए जाएं। इसके लिए परंपरा की जड़ की तलाश करनी होगी तथा परंपरा का परिष्कार करते हुए आगे बढ़ना होगा। साथ ही चकाचौंध वाली आधुनिकता और कथित विकास के मकड़जाल से निकलना होगा। देशज खेती से संबंधित चिंतन के कुछ सांस्कृतिक पहलू पर ध्यान खींचने की कोशिश यहां की जा रही है।

भयंकर खाद्य संकट के इस दौर में आज हर जगह देशज खेती पर बड़े जोरों से चर्चा हो रही है। इसे जैविक खेती या सजीव खेती के नाम से भी पुकारा जाता है। भूमंडलीकरण के आज के दौर में देशज खेती की उपयोगिता पर बहस इस बात का संकेत है कि दुनिया पुनर्चिंतन के दौर से गुजर रही है। इस पुनर्चिंतन को गंभीरता से समझने की जरूरत है।

पुनर्चिंतन में शामिल लोग तीन खेमों में विभाजित हैं। पहला खेमा मानता है कि विकास का जो सिलसिला चल पड़ा है, उसमें प्रकृति को विनष्ट कर इंसान अपनी जरूरत की तमाम चीजें पा सकता है। प्रकृति का यह विनाश उसे भौतिक विकास की ओर ले जाएगा। यह चिंतन मानता है कि जीने की आवश्यक सामग्री अगर धरती पर संभव न हो तो अन्य ग्रहों और उपग्रहों पर जुटाई जा सकती है। इस सामग्री में जीविका की सामग्री भी निहित है।

दूसरा खेमा मानता है कि पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं, उनमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए मनुष्य को जिंदा रखने के लिए अन्य प्राणियों

को शिकार बनाया जा सकता है। यह उसका अधिकार है। यह खेमा मनुष्य को जिंदा रखने के लिए, उसे कथित विकास की ओर ले जाने के लिए कई प्रयोग कर रहा है। उन प्रयोगों के लिए वह अन्य प्राणियों को माध्यम बना रहा है। मनुष्य 'अमर' कैसे हो, यह भी 'प्रयोग' का विषय है। इसके लिए अन्य प्राणियों को मौत के मुंह में धकेलकर उन्हें जिंदा रखने की जद्दोजहद करना प्रयोग का हिस्सा है।

एक तीसरा खेमा भी है। यह उक्त दो खेमों से अलग इस चिंतन की ओर पूरी दुनिया का ध्यान आकृष्ट कर रहा है कि सृष्टि का निर्माण जीवों के परस्परावलंबन और उनके संपोषण से हुआ है। सृष्टि निर्माण और विकास की यह प्रक्रिया करोड़ों वर्षों के नैसर्गिक संतुलन और संपोषण की बुनियाद पर टिकी है। मनुष्य उन प्राणियों में से एक है जो अपेक्षाकृत विकसित और परिष्कृत है। इस अर्थ में मनुष्य के ऊपर अपने कर्तव्य का दोहरा दायित्व आन पड़ा है। पहला, परस्परावलंबन की प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहे। दूसरा यह कि दूसरे प्राणियों को क्षति पहुंचाने वाली प्रक्रिया के खिलाफ वह अपना संघर्ष जारी रखे। यानी संघर्ष और निर्माण की दोहरी प्रक्रिया का दायित्व इंसान को उठाना है। सजीव खेती इसी प्रक्रिया की एक कड़ी है।

खेती जिसे अंग्रेजी में 'एग्री-कल्चर' कहते हैं, का सीधा संबंध संस्कृति से है और संस्कृति का संबंध मूल्य से। इस अर्थ में सजीव खेती मूल्य आधारित संस्कृति को पल्लवित और पुष्पित करने की कला है। सिर्फ कला नहीं, विज्ञान भी। कुल मिलाकर एक जीवन-दर्शन।

औद्योगिक सभ्यता में जिसे औद्योगिक मूल्य ने 'एग्रीकल्चर' को 'एग्रो-इंडस्ट्री' में बदलने की कोशिश की है, वह मनुष्य को संस्कृतिविहीन और मूल्यविहीन बनाने की सायास पहल साबित हो रही है। आज टकराहट इन्हीं के बीच है—मूल्य आधारित प्रक्रिया और मूल्यविहीन पहल के बीच! कथित औद्योगिक सभ्यता तकनीक को आधार बनाकर अपना लक्ष्य पाना चाहती है। इसका लक्ष्य है अधिक से अधिक पूंजी का निर्माण। और, यह पूंजी व्यक्ति केंद्रित होती चली जाती है। पूंजी एक ऐसा उपादान है जिसका उपयोग बहुआयामी हित में हो सकता है। लेकिन यह तभी संभव है जब पूंजी समुदाय की थाती बने न कि व्यक्ति की संपत्ति। पूंजी प्राकृतिक धरोहर और श्रम के

समायोजन से पैदा होती है। इसलिए पूंजी पर समाज, मानव (समुदाय) सहित मानवेतर प्राणियों का भी अधिकार है। लेकिन आज इस पूंजी का मुट्ठी भर लोगों की सुख-सुविधा और भोग-विलास में उपयोग किया जाता है। आधुनिक खेती इसी की देन है जिसमें मुनाफा निहित है लेकिन मनुष्यता गायब। जहां भावप्रवणता इंसान की गरिमा को समृद्ध करती है और उसे संसृति की ओर ले जाती है, जहां से परस्परावलंबन और संपोषण की पद्धति समवेत् होती चली जाती है। इस अर्थ में सजीव खेती संपोषण और परस्परावलंबन की प्रक्रिया को और प्रांजल (सरल और स्पष्ट) बनाती है।

सजीव खेती महज परंपरा का परिष्कार नहीं है। यह प्रकृति और संस्कृति के संपोषण का दूसरा नाम है। इंसान के श्रम, पशु की ऊर्जा और अन्य प्राणियों के स्वेदन से गुम्फित यह लोकविद्या नए जीवन का निर्माण करती है।

जैविक खेती का सीधा रिश्ता प्रकृति के अन्य उपादानों से जुड़ा है। जंगल, जल और जानवर सजीव खेती को आगे बढ़ाने के महत्वपूर्ण साधन हैं। मिट्टी जितनी सजीव होगी, पानी जितना सजीव होगा तथा जंगल जितना वैविध्यपूर्ण होगा, सजीव खेती उतनी ही समृद्ध होगी। भू-आकृति और भू-भाग को ध्यान में रखकर हमारे पूर्वजों ने खेती के जिस शास्त्र का निर्माण किया, वह न सिर्फ विकसित था बल्कि परस्पर पूरक भी। इस खेती में हमेशा इस बात का ध्यान रखा जाता है कि मानव और मानवेतर प्राणी का रिश्ता जितना सघन होगा खेती उतनी ही समृद्ध और जीवनदायिनी होगी। रस-सुगंध से सुविकसित खेती इंसान के जीवन को भी सरस, मधुर और सुसंस्कृत बनाती है। जीवन गतिमान हो उठता है और मानवता गरिमापूर्ण। ऐसी स्थिति में इन्सान अपनी परिधि से बाहर निकलकर समष्टि की असीम परिधि से अपना रिश्ता जोड़ता है और अपने को मुकम्मल इन्सान बनाने की चेष्टा करता है। मुक्कमल इन्सान का मतलब मूल्यों को जीने वाला इन्सान। इस अर्थ में सजीव खेती महज एक तकनीक नहीं बल्कि जीवनमूल्य है। जब हम सजीव खेती को इस दृष्टि से देखेंगे और जीयेंगे तभी हम आज की बाजारू खेती और मूल्यविहीन भूमंडलीकरण का मुकाबला कर सकेंगे। जलवायु संकट और खाद्य संकट से उबर सकेंगे। ■

जलवायु संकट : विकल्प देशज खेती

आजादी के बाद देश में जो अर्थनीति अपनायी गई वह मिश्रित अर्थ व्यवस्था की थी। उस समय यह दबाव अपने ऊपर था कि अपना देश भारत अमेरिका और रूस, जो उस समय की दो ध्रुवीय ताकत थे, को एक साथ, खुश रखे। प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल जी बहुत हद तक इस संतुलन को अपनी मिश्रित अर्थ व्यवस्था से, बनाये रखने में कामयाब हुए। लेकिन इस मिश्रित अर्थ व्यवस्था में निजी और सरकारीकरण की प्रक्रिया के तहत महज उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। परिणामतः भारत की खेती-किसानी, जिस पर अधिसंख्यक आबादी निर्भर थी, उपेक्षित होती चली गई। गांव उपेक्षा का शिकार हुआ। मुल्क को राजनैतिक आजादी जरूर मिली पर गांव गुलाम होते चले गये। खेती के उपेक्षित होने से किसान मजदूर बनने लगे और गांवों से पलायन कर शहरों की तरफ भागने लगे। गांव के हुनर और ज्ञान शहर की शोभा बढ़ाने लगे। इससे खेती पिछड़ती चली गई। सन् 65 आते-आते देश भयंकर खाद्य संकट का शिकार होने लगा। सन् 66-67 के अकाल ने गांव की पीड़ा को समझने का अवसर प्रदान किया। इस पीड़ा से उपजा 'ग्रो मोर फूड' का नारा। पंडित जवाहर लाल जी के बाद जब लाल बहादुर जी देश के प्रधान मंत्री बने तो उन्होंने गांव की गरीबी और किसानों की बदहाली को दूर करने के तरीके अपनाये और 'जय जवान, जय किसान' का आकर्षक नारा दिया। सन् 61-62 की चीन से हुई पराजय ने उन्हें जवानों को सशक्त करने और किसानों को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में मोड़ दिया। देश अब 'ग्रो मोर फूड' के नारे से लैस हो खेती के आधुनिक तरीके अपनाता चला गया। खेती के आधुनिक तरीके ने गांव के ज्ञान और किसानों के हुनर को ही नहीं नकारा बल्कि खेती की परम्परागत पद्धति को भी नकार दिया। बाबा आदम

से चले आ रहे विभिन्न प्रकार के बीज, पशुधन और जंगल पर निर्भर खेती को मशीन और पूंजी का पिछलग्गू बना दिया। बड़े पैमाने पर रासायनिक खाद और संकर बीज के साथ-साथ ऐसे यंत्र और उपकरणों के प्रयोग खेती में होने लगे जिनकी उपलब्धता यहां नहीं थी। परिणामत: हमें विदेशों से मशीन, रासायनिक खाद और दवाइयां मंगानी पड़ी। दो दशक तक उपज काफी बढ़ी और लगा देश अनाज के मामले में स्वावलंबी बन गया है। लेकिन अनाज के रूप में अपने पास उन्नत धान और गेंहू थे। अन्य प्रकार के सैकड़ों किस्म के धान और मोटे किस्म के अनाज के अस्तित्व समाप्त होने लगे। परिणामत: देश भयंकर कुपोषण और रक्तल्पता का शिकार होता चला गया। अब खाद्य संकट का भी दौर शुरू हो गया। कुपोषण और महिलाओं की रक्तल्पता ने इस आधुनिक उपज और समझ का पर्दाफाश कर दिया है। इसलिए अब सिर्फ देश और दुनिया परम्परागत खेती और जैविक पद्धति की ओर फिर मुखातिब होने लगे हैं। आधुनिक खेती और रासायनिक खेती के पैरोकार डॉ. स्वामीनाथन भी अब इस ओर मुड़ गये हैं। (डॉ. स्वामीनाथन अब नहीं रहे।)

जहां तक परम्परागत खेती और जैविक पद्धति की बात है, तो इसमें झारखंड की पद्धति से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। झारखंड की खेती का विकास यहां के पूर्वजों ने यहां की भू-आकृति, भू-संस्कृति और जलवायु को ध्यान में रखकर किया था। खेती हमारे लिये महज पेट भरने की विधा नहीं थी और न यह महज रोजगार थी। खेती हमारी संस्कृति और सभ्यता में रची बसी भू-सांस्कृतिक धरोहर थी। जिसको जंगल, पशुधन और कुटीर उद्योग तथा लोक ज्ञान के आधार पर मौसम के अनुरूप सजाया संवारा गया था। हमारे पूर्वजों को यहां की भू-आकृति और जलवायु का व्यवहारिक ज्ञान था। किस मौसम में हवा की रफ्तार और रूख कितनी और किस ओर होती है इसको ध्यान में रखकर खेतों का निर्माण किया जाता था। खेतों की बनावट में भी वर्षा की मात्रा और पानी के बहाव के रूख को ध्यान में रखा जाता था। जंगल से बहकर आने वाली हरित खाद कितनी मात्रा में खेतों को मिलेगी? क्या इससे खेतों की उर्वरा शक्ति बरकरार रहेगी? या फिर इसमें अतिरिक्त सजीव खाद का इस्तेमाल करना पड़ेगा? इसकी भी जानकारी रखते थे। किस मौसम में किस तरह की खेती की जरूरत है तथा लोगों को मौसम के अनुरूप किस

तरह के अनाज या खाद्यान्न की जरूरत है, को भी ध्यान में रखकर खेती की जाती थी। खेती की विविधता और विभिन्नता ने भी हमारी संस्कृति को विविधतापूर्ण बनाया।

इसी प्रकार खेती को कितने पानी की जरूरत है? अतिरिक्त पानी जो प्रकृति हमें देती है, का इस्तेमाल कैसे किया जाये? इस पानी में कौन-कौन से जलजीव तैयार किये जायें, जो मानव समाज के लिये जरूरी हैं इस पर भी ध्यान रखा जाता था। प्रोटीन और विटामीन की मात्रा संतुलित रहेगी या नहीं, का भी ज्ञान अपनी परम्परागत खेती करने वालों को था।

खेती की नमी कैसे बरकरार रहेगी तथा उसकी जैविकता कैसे विकसित और पुष्ट होती रहेगी, इसका भी समुचित ज्ञान अपने समाज के पास था। भोजन का मतलब महज पेट भरना नहीं होता था, बल्कि उसमें रस, सुगंध, स्वाद और शरीर की जरूरत के अन्य तत्त्व कैसे समाहित रहे, इसपर विशेष ध्यान दिया जाता था। किस मौसम में किस तरह की सब्जी? किस तरह के फल? किस तरह के तेलहन और दलहन चाहिए? इसकी भी व्यवस्था की जाती थी। खेतों के प्रकार को ध्यान में रखकर अनाज, सब्जियां या अन्य मसाले तथा तेलहन उपजाये जाते थे। कम पानी में कौन अनाज हो सकता है? और अधिक पानी के प्रहार को कौन अनाज सह सकता है? इसकी जानकारी का इस्तेमाल अपने पूर्वज करते थे। खेती महज पूंजी और बाजार के लिये नहीं बल्कि जीवन और जीविका को भी संपुष्ट और सुव्यवस्थित करने के लिये की जाती थी। इस तरह अपनी खेती पूरी तरह से स्वावलंबी थी। तकनीक और श्रम के अर्थ में खेती परस्परावलंबी थी। इसलिए यहां 'मदइत' की व्यवस्था पनपी थी। श्रम और साधन के मामले में सभी समुदाय एक-दूसरे पर निर्भर थे। खेती, श्रम और साधन के बीच अन्योन्याश्रित संबंध थे। यहां से समाज में सामुदायिक भावना पनपती थी। समाज में बंधुता और बहनापा का भाव विकसित होता था। यानी परम्परागत खेती समाज के विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और समुदायों को जोड़ने का सजीव साधन थी। एक सशक्त विधा। एक संस्कृति। ■

आजीविका की देशज अवधारणा : संकट का विकल्प

झारखंडी समाज आजीविका के मामले में स्वावलंबी समाज रहा है। जंगल, खेती, पशुपालन, कुक्कुटपालन, लघु एवं कुटीर उद्योग यहां की आजीविका की विशेषता रही है। तमाम समुदाय स्वावलंबन की प्रक्रिया को बढ़ाते हुए परस्परावलंबी रहे हैं।

झारखंडी समाज में आजीविका की अवधारणा के केन्द्रीय तत्त्व हैं- भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, रंजन और सृजन। इसलिए हमारे वस्त्र भी हमारे लिए सिर्फ उतने ही उपयोगी हैं प्रकृति जितनी उसकी जरूरत को महसूस करवाती है। मौसम और परिस्थितिजन्य होते हैं हमारे वस्त्र। वस्त्रों के रंग भी प्रकृति में व्याप्त विभिन्न रंगों से लिये जाते हैं। इसमें रासायनिकता नहीं होती बल्कि वानस्पतिक सजीवता होती है। इसलिए हमारे रंग हमारी आंखों को न सिर्फ आकर्षित करते हैं बल्कि आंखों की दृष्टि को प्रखर, पैनी और अर्थवान बनाते हैं। रंग-रोगन में इस्तेमाल किये जाने वाले वानस्पतिक रंग जहां एक ओर हमारी ज्ञान-शक्ति को सशक्त करते हैं वहीं दिमाग के ज्ञान तन्तु को तरंगित कर संवेदनशील बनाते हैं। यहीं से होता है उर्जा का प्रस्फुटन जो उम्र की सीमाओं को भी पाट देता है।

झारखंड में सजीव और सरस खेती की एक विशिष्ट परम्परा रही है जिसमें विभिन्नता और बहुलता की भरमार रही है। इसलिए यहां हजारों किस्म के न सिर्फ धान पाये जाते थे बल्कि सैकड़ों किस्म के मिलिट्स (मोटे अनाज) वनस्पति और साग-भाजी का उत्पादन होता था। इस उत्पादन की प्रक्रिया में जंगल और सदा सलिला जल स्रोतों का विशेष योगदान था। एक तरह से झारखंडी समाज और समुदाय खाद्य मामले में संप्रभु था।

आज खाद्य सुरक्षा के नारे लगाये जा रहे हैं। इससे संबंधित कानून भी

बनाये गये हैं, जो हमारी खेती को न सिर्फ परावलंबी बनायेगा बल्कि हमारे किसानों को जमीन से बेदखल भी करेंगे। खाद्य सुरक्षा का नारा किसानों को स्वावलंबी बनाने के लिए नहीं बल्कि भूख को अमीरों के हाथों में गिरवी रखने का एक उपक्रम मात्र है। जमीन जब किसानों के हाथ में रहती है तब किसान न सिर्फ स्वत्रंत होते हैं, बल्कि अपनी सृजनशीलता और विवेक का इस्तेमाल बखूबी करते हैं। यह सृजनशीलता और विवेक ही उन्हें समाज के प्रति जिम्मेवार बनाते हैं। इसलिए झारखंड के किसान अनाज का उतना ही उत्पादन करते थे जिससे वे अपने समाज तथा पास-पड़ोस के समुदाय का भरण-पोषण कर सकें। बाजार यहां के किसानों के चित्त में नहीं थे और न पूंजी किसानों के लिए चिंता की बात। यहां के किसानों के चित्त इतने साफ और सरल थे कि श्रम और सृजन को परस्परता का एक उपादान मानते थे। इसलिए यहां मदइत जैसी परम्परा का विकास हुआ। ज्यों-ज्यों श्रम को मजदूरी के तराजू पर तौला जाने लगा और सृजन को बाजार की वस्तु बनाया जाने लगा, त्यों-त्यों स्वावलंबन और परस्परावलंबन की प्रक्रिया ढीली पड़ती गई और चित्त में पूंजी की चिंता घर करती चली गई। यह पूंजी और पूंजीवाद की चिंता आज पूरी दुनिया को खाये जा रही है। भंयकर मंदी के दौर, खाद्यान्न का अभाव और रोजगार की कमी ने पूंजीवाद के सामने कई सवाल खड़े कर दिये हैं जिसका जवाब भूंमडलीकरण के पुरोधाओं को नहीं सूझ रहा है। झारखंडी समाज की चिंतन-धारा और जीवनपद्धति इसका जवाब दे सकती है, इसलिए झारखंड के नवनिर्माण की प्रक्रिया को गतिमान बनाना न सिर्फ झारखंड को स्वस्थ और स्वावलंबी बनाना है बल्कि इससे जो दृष्टि और दिशा मिलेगी उससे अवरुद्ध पूंजीवाद से स्वशासी, समाजवादी और सामुदायिक जीवन पद्धति को गढ़ने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

झारखंड में आवास की अवधारणा यहां की भू-सांस्कृतिक बनावट और जलवायु तथा यहां पर उपलब्ध स्थानीय संसाधनों की बुनियाद पर विकसित हुई है। अमूमन घरों का निर्माण वर्षा की धार और मौसम के प्रहार को ध्यान में रखकर यहां के समुदाय करते रहे हैं। वास्तुशिल्प की झारखंडी परिकल्पना के केन्द्र में महज इंसान नहीं होता बल्कि अन्य पशु-पक्षियों के निवास का भी इसमें सवामेश होता है। मिट्टी और पुआल को गूंथ कर यहां के समाज

अपने घरों की दीवारें खड़ी करते रहे हैं। उन दीवारों के ऊपर छप्पर बनाने के लिए बांस, जंगल में पाई जाने वाली लकड़ियों और घास-फूस का इस्तेमाल किया जाता रहा है। अमूमन छप्पर के लिए जिन लकड़ियों का इस्तेमाल किया जाता रहा है उनमें शाल और महुए की लकड़ियों की बहुलता होती है। शाल और महुआ की लकड़ियां (परिपक्व) लोहे से भी लम्बे काल तक टिकने वाली होती हैं। घरों में बड़ी-बड़ी खिड़कियों की व्यवस्था उस तरह से नहीं होती जिस तरह आज के मकानों में होती है। इसलिए लोग यह सवाल करते हैं कि आदिवासियों के मकान हवादार नहीं होते। यहां यह समझना जरूरी है कि आदिवासी समुदाय सामान्य तौर पर रहने के लिए मकान का इस्तेमाल नहीं करते बल्कि सामानों की सुरक्षा और यौन गोपनीयता के लिए करते हैं। सोने और विश्राम के लिए अमूमन बरामदों का इस्तेमाल किया जाता है। बरामदों का आकार दूसरे समुदायों के मकानों से ज्यादा बड़ा होता है। इतना ही नहीं पशु-पक्षियों के रख-रखाव के लिए भी अलग किस्म के मकान बनाये जाते हैं। घर की सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है और हर दिन आंगन को महिलाएं गोबर और धान की भूसी निर्मित राख से लिपाई करती हैं। घर की दीवारों के भित्ति चित्रों को खूबसूरत रंगों से उकेरा जाता है। आगंतुकों के बैठने के लिए चौड़े-चौड़े ओटे होते हैं। इन ओटों का इस्तेमाल बैठने के लिए भी होता है और घरों की दीवारों की सुरक्षा के लिए भी। हर वर्ष धनकटनी के बाद घरों की दीवारों और छप्परों को छारा, सजाया और संवारा जाता है।

झारखंड में स्वास्थ्य की अवधारणा महज रोगों से मुक्ति दिलाना (चंगा करना) भर नहीं है बल्कि यह जीवन तत्त्व को सशक्त बनाने और प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने का भी एक माध्यम है। इसलिए इंसान और इंसानेतर प्राणी परस्पर ढंग से स्वस्थ कैसे रह सकते हैं और परस्पर एक दूसरे को स्वस्थ्य कैसे बना सकते हैं, इसकी विधा भी हमारे स्वास्थ्य की अवधारणा में है। इसलिए खेती से उपजे अनाज जहां हमें कैलोरी (ऊर्जा) और प्रोटीन मुहैया कराते थे, वहीं बाड़ी से उपजी वनस्पति और अन्य प्रकार के मसाले हमारे लिए विटामिन और हमारी पौष्टिकता के अन्य तत्त्व भी उपलब्ध कराते थे। इसलिए 'झाड़-खण्ड' के लोग महज खेती नहीं करते, खेती-बाड़ी करते थे। आधुनिक शब्दावली में जिसे फार्मिंग एण्ड किचन गार्डेनिंग कहा जाता है। उक्त दोनों व्यवस्थाएं

हमारी प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने की प्रक्रिया का नाम था। इसलिए अधिकांश मौसमी बीमारियों का इलाज बाड़ी में उपजी वनस्पतियों एवं मसालों से हो जाया करता था। अपनी भाषा में हम सब इसे दादी-नानी का इलाज कहते हैं। गंभीर बीमारियों में जंगल हमारे लिए औषधालय होते थे तथा वैद्य और दाई मां हमारे लिए चिकित्सक और नर्स। 'अपना स्वास्थ्य अपने हाथ' के हम संवाहक थे, इसलिए तमाम कमियों के बावजूद झारखंड की औरतें रक्ताल्पता की शिकार नहीं होती थी और न बच्चे कुपोषित होते थे। मौसम के अनुरूप और शरीर के जरूरतों के मुताबिक हमारे खाद्य पदार्थ हमें संपुष्ट और स्वस्थ बनाये रखते थे। आज रासायनिक खाद के चलते अस्थाई तौर पर अनाज की ऊपज में बढ़ोतरी तो हुई है, लेकिन अनाज के प्रकार में और उसके पोषक तत्त्व में काफी कमी आयी है। खेतों में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के साग-भाजी, केकड़े, मछलियां और घोघली जो शरीर की पौष्टिकता के लिए महत्वपूर्ण खाद्य पदार्थो में शुमार थे, अब लगभग खत्म से हो गये हैं। अन्य खाद्य पदार्थों में कैलोरी की मात्रा तो बढ़ गयी है, लेकिन पौष्टिकता के अन्य तत्त्व समाप्तप्राय हो गये हैं। परिणामतः शरीर के भीतर की प्रतिरोधक क्षमता में तेजी से ह्रास हो रहा है और लोग विभिन्न तरह की बीमारियों के शिकार हो रहे हैं। रासायनिक खाद न सिर्फ जमीन की ऊर्वरा शक्ति को धीरे-धीरे खत्म कर रही है बल्कि मिट्टी के अंदर पाये जाने वाले अन्य जैविक कीटाणुओं को भी समाप्त कर रही है। जिसके कारण एक तरफ जमीन के भीतर की नमी खत्म हो रही है, वहीं दूसरी तरफ फसलों को अधिक पानी की जरूरत पड़ रही है। जमीन 'उसठ' होती चली जा रही है। और, इस जमीन पर लगने वाले संकर बीज (हाईब्रीड) पानी की थोड़ी सी कमी को भी बर्दाश्त नहीं कर पा रहे हैं। परिणामतः प्रच्छन्न वर्षा के कारण फसलों की ऊपज में दिन-ब-दिन गिरावट होती जा रही है और सूखा तथा अकाल की विभीषिका में बढ़ोतरी हो रही है। सूखा तथा अकाल से सामना करने के लिए यह जरूरी है कि झारखंडी सत्ताधीश अपनी संस्कृति की जड़ की तलाश में लग जायें। प्राकृतिक विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए सूखा और अकाल का सामना करने के लिए वन, वनोपज, खेती, पशुपालन तथा कुटीर उद्योग की तरफ लौटना एवं सतत् विकास की प्रक्रिया को बढ़ाना ही समुचित उपाय है। ■

जल-प्रबंधन का लोक-विज्ञान : एक समाधान

झारखंड राज्य निर्माण के 24 वर्ष पूरे हो गए। जब झारखंड बना था तब आशा भरी निगाह से लोग सत्ता प्रतिष्ठान की तरफ देख रहे थे। लोगों ने यह आशा बांध रखी थी कि बिहार से अलग होने के बाद हमारा झारखंड समता और न्याय की तरफ कदम बढ़ाते हुए सम्मुन्नति और समृद्धि लाएगा, झारखंड के खेत लहलहाएंगे, झारखंड के जंगल जीवन को समृद्ध बनाएंगे और झारखंड के खनिज और खदान बेरोजगार हाथों को काम देंगे तथा झारखंड की संस्कृति के लय और ताल पर पूरा झारखंड थिरकेगा। शस्य-श्यामला धरती मौसम के साथ अठखेलियां करती हुई सुजलाम्-सुफलाम् बनेगी।

लेकिन पिछले 24 वर्षों में लगभग सभी दलों ने सत्ता प्रतिष्ठान में बैठकर यहां की जनाकांक्षाओं के साथ महज खिलवाड़ ही नहीं किया बल्कि उसके विपरीत तेजी से कदम बढ़ाए, परिणामतः पिछले 24 वर्षों में झारखंड में 7 बड़े सूखे पड़े। लगभग सभी जिले सूखे और अकाल के शिकार बने। विडम्बना तो यह हुई कि इस सूखे और अकाल के नाम पर बनने वाले लाखों तालाब खुद प्यासे के प्यासे रह गए। जब तालाब खुद प्यासा हो तो वह धरती की प्यास क्या बुझाएगा! मरती फसलों को पानी कहां से देगा! सरकार की इस अदूरदर्शिता और नासमझी ने सूखे और अकाल के खिलाफ की लड़ाई को हास्यास्पद बना दिया। इस साल अगर मॉनसून की कृपा दृष्टि नहीं होती तो झारखंड फिर अकालग्रस्त हो जाता।

झारखंड की भौगोलिक बनावट और भू-आकृति को ध्यान में रखकर अगर सरकार ने पिछले 24 वर्षों में जल-प्रबंधन की संरचना गढ़ी होती तथा सामुदायिक ज्ञान से उपजी परम्परागत जल-प्रबंधन की व्यवस्था के अध्ययन मनन के बाद आधुनिक जल-प्रबंधन को आकार देने की सदाशयता दिखाती

तो झारखंड के खेत आज प्यासे नहीं रहते और न मानव सहित अन्य प्राणियों को जीने के जरूरत भर पानी का अभाव होता। तत्कालीन बिहार ने झारखंड के भूगोल को समझे बिना जल-प्रबंधन के जिन ढांचों का विकास किया उससे जहां एक तरफ लोग उजड़े, जंगल डूबे और संस्कृतियां वीरान हुईं वहीं दूसरी तरफ अकाल, सूखाग्रस्त और बाढ़ग्रस्त क्षेत्र का विकास हुआ। परम्परागत जल-प्रबंधन की संरचना को जहां एक तरफ पिछड़ा मानकर उपेक्षित और तिरस्कृत किया गया। वहीं बड़े बांध बनाकर आधुनिक बनने का अंहकार पालते हुए लोकज्ञान और विज्ञान को नकारा गया।

19वीं सदी के आखिरी दशकों में और इस शताब्दी के आरंभ में छोटानागपुर-संथाल परगना में जितने खेतों की सिंचाई होती थी, उसमें से 90 प्रतिशत आहरों और तालाबों से होती थी। 1901-1903 में गठित ईरिगेशन और केनाल कमीशन की रिपोर्ट, अलग-अलग जिलों के सेटलमेन्ट अफसरों की रिपोर्ट और छोटानागपुर में नियुक्त पहले सर्वे सेटलमेंट ऑफिसर जॉन रीड की रिपोर्ट से यहां की परम्परागत सिंचाई व्यवस्था की जानकारी मिलती है। जॉन रीड धालभूम के सर्वे रिपोर्ट में लिखते हैं कि 'करीब हर एक गांव में एक एक तालाब या बांध है जिसका पानी बहकर निचले धरातल की फसल को पहुंचता है या कभी-कभी नाली बनाकर पानी को काफी दूर तक ले जाया जाता है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्रभु महापात्रा ने अपने शोध कार्य के अन्तर्गत छोटानागपुर में खेती और सिंचाई की स्थिति का महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया है। प्रभु महापात्रा ने 1920 से 1980 के बीच छोटानागपुर से रोजगार की खोज में मजदूरों के बाहर जाने की प्रथा पर शोध-अध्ययन किया है। इस शोध अध्ययन में उन्होंने पलामू जिले की आहर प्रणाली पर प्रकाश डाला है। उसी प्रकार संथाल परगना के सेटलमेंट ऑफिसर एच. मैक्फर्सन ने भी यहां की सिंचाई व्यवस्था पर गंभीरता से प्रकाश डाला है।

संथाल परगना के किसानों ने इस जगह होने वाली वर्षा और जमीन की बनावट को देखते हुए कई तरह के उपयुक्त पेड़-पौधों की खोज की। इनमें धान से लेकर मडुआ तक और मक्का से लेकर गोंदली (एक स्थानीय

मोटा अनाज) तक प्रमुख थे। ये फसलें बहुत कम पानी और अत्यधिक वर्षा, दोनों में ही उगाई जा सकती थी। इस जगह के किसानों ने जल संचय की एक अनोखी विधि भी विकसित की थी। छोटानागपुर तथा संथाल परगना के इलाके में खेती, खेतों की बनावट, जल प्रबंधन, उपयुक्त बीज और तकनीक पर निर्भर करती है।

छोटानागपुर-संथाल परगना के खेतों की बनावट मैदानों से भिन्न है। ये खेत जमीन के फैलाव और पानी के बहाव के अनुसार बनाए जाते हैं। स्थानीय किसानों ने जरूरत से ज्यादा पानी निकालने की विधि विकसित की है, जो आधुनिक बांधो (कंटूर बंडिंग) से मिलती जुलती हैं पर उनकी विधि इससे अधिक जटिल है। खेतों में बनाए गए मेंड़ को टिकाऊ बनाने के लिए इन पर तुरंत बढ़ने वाली घास और पेड़ लगाए जाते हैं। खेतों में सिंचाई करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की तकनीक अपनाई जाती थी। इनमें सोतों पर अस्थायी बांध बनाना, वर्षा जल को जमा करने के लिए गहरे कुएं खोदना, तालाब खुदवाना या 'आहरों' का निर्माण करना, जिससे ढलवां जमीन पर वर्षा के पानी को जमा करने में सहायता मिलती थी, आदि प्रमुख थी।

नदी या सोते के प्रवाह के मध्य में अस्थायी बांध बनाए जाते थे। ये मिट्टी अथवा बालू के बने होते थे। इन्हें नवंबर और दिसंबर महीनों में बनाया जाता था। धान की कटाई के बाद बांध का पानी अन्य फसलों की सिंचाई के लिए उपयोग में लाया जाता था। इस पानी को घरेलू काम में भी लाया जाता था। बाद में वर्षा इस बांध को बहा ले जाती थी।

ढलान वाली जमीन पर पानी जमा करने के लिए मिट्टी के बांध का निर्माण किया जाता था। इसे ढलान के मध्य में बनाया जाता था और इसकी गहराई, लंबाई, चौड़ाई पानी के बहाव पर निर्भर करती थी। मिट्टी के इन बांधों के ऊपर फलों के पेड़, जिनके पत्ते तुरंत खाद में परिवर्त्तित हो जाते थे, लगाए जाते थे। इन पेड़ों को इस तरह से लगाया जाता था जिससे पत्ते सीधे खेतों में गिरें और उन्हें अधिक उपजाऊ बनाएं। इसलिए, इन मेड़ों के नीचे की तरफ बड़े खेत पाए जाते थे। इनके पानी को कम वर्षा के दिनों में उपयोग में लाया जाता था।

तालाब और आहर पिछले कई सौ सालों से इन क्षेत्रों में काम में लाए

जा रहे हैं। आहर की चर्चा प्राचीन भारतीय ग्रंथों और अंग्रेजी भाषा में लिखी गई किताबों में भी पाई जाती है। ब्रिटिश अधिकारी इन विधियों को देखकर आश्चर्यचकित थे।

गड्ढे और कुएं एक चौथाई भूमि की सिंचाई करते थे और बाकी सिंचाई का काम पानी के अन्य स्रोतों के द्वारा किया जाता था। उदाहरण के तौर पर, सन् 1975-76 में पूरे संथाल परगना क्षेत्र में 232000 हेक्टेयर जमीन की सिंचाई की जाती थी, जिसमें 69,000 हेक्टेयर की सिंचाई कच्चे कुओं और गड्ढों में जमा किए गए पानी के द्वारा की जाती थी।

छोटानागपुर और संथाल परगना के किसान यह भली-भांति जानते थे कि किस फसल को ऊंचे खेतों और किसको नीचे के खेतों में उपजाना चाहिए। ऊंचे खेतों को दो भागों में बांटा जाता था- 'बारी' और 'टांड़'। इनमें से 'बारी' जमीन अधिक उपजाऊ होती थी। 'टांड़' में लगाई जानेवाली फसलों में कुरथी, गोन्दली, मूंग, घंघरा, बरबट्टी, मडुआ, शाक, और कोदो। 'बारी' में मकई, बाजरा, मिर्च, टमाटर, हरी सब्जी, अरहर और आलू की फसल होती थी।

छोटानागपुर और संथाल परगना में हजारों नदियां और सोते हैं। अधिकतर गांव इन सोतों के किनारे बसे हुए हैं। सोते अब बारहमासी नहीं, मौसम के ऊपर निर्भर करते हैं। थोड़े-बहुत जो बचे हैं वे नदी के किनारे फैले जंगलों में रह गए हैं। इसलिए पानी की लगातार आपूर्त्ति के लिए वृक्षारोपण बहुत ही महत्वपूर्ण है।

संथाल परगना के मधुपुर ब्लॉक में अंबाजोरी या अंबादह नदी दस कि.मी. तक घूम-फिरकर एक जंगल से गुजरने के बाद बुढ़ई के निकट पतरो नदी में जा मिलती है। यह छोटी नदी एक बहुत बड़े आम के पेड़ के पास से निकलती थी, इसलिए इसका नाम अम्बादह है। आज न तो आम के पेड़ हैं और न कोई अन्य स्रोत का पता लगाया जा सकता है। इन जगहों पर अब किसानों ने फसल रोपनी शुरू कर दी है। पर आज यह नदी फिर भी बह रही है। उद्गम के चार कि.मी. के अंदर ही करीब 12 छोटे सोते नदी में मिलते हैं। इनमें से आज करीब पांच खत्म हो गए हैं। सिवाय मौसमी तौर पर बहने के सिवाय ये अब ज्यादातर समय सूखे ही रहते हैं।

अपने उद्‌गम से तीन कि.मी. आगे बढ़ते ही अंबादह का पेट चार गुना चौड़ा हो जाता है। प्रवाह के आगे बढ़ते जाने के साथ इसमें रेत के कण भी मिलने लगते हैं- पहले बड़े, फिर छोटे। बड़ी नदी से मिलने के पहले इसमें रेत ही रेत भर गई है। इस पर छह बांध डाले गए। इनके आस-पास की जमीन पर फसलें खूब उगती हैं। बांध के पास ही छोटे गड्ढे बनाए गए हैं, जिनमें जमा पानी पीने के लिए प्रयोग किया जाता है। कारीपहाड़ी गांव के प्रधान बड़कू सोरेन के अनुसार उनके गांव और नदी के उद्‌गम स्थल के बीच दो-तीन बांध डाले जा सकते हैं। उनका अनुमान है कि एक बांध से 50 बीघे (10 हेक्टेयर) जमीन की सिंचाई हो सकती है। अगर हर सोतों का हिसाब लगाएं तो संभावनाएं अनंत दिखेंगी।

अम्बादह जैसी हजारों सदा सलिला जोरिया (सोत) झारखंड के अधिकांश गांवों में थीं जिनमें पहले इतना जल होता था कि लोग अपने घरेलू उपयोग सहित सिंचाई की व्यवस्था भी उनसे कर लेते थे। सदा सलिला जोरिया होने के कारण बड़ी नदियों में भी अमूमन साल भर पानी रहता था। विकास की अंधी दौड़ ने जंगल का विनाश किया। परिणामतः अंतरधारा प्रभावित हुई और सदा सलिला जोरिया सूखने लगीं। जंगल के कटने के कारण बरसात की इस तेज धार ने जहां एक ओर यहां की उपजाऊ मिट्‌टी को काटकर बहाना शुरू किया वहीं दूसरी ओर गहरी जोरिया और नदी उथली होने लगीं। तालाब भी गाद के भर जाने के कारण उथले होते चले गये। परिणामतः जोरिया, नदी और तालाबों में कुछ महीने ही जल-संग्रहित रह पाता है। अधिसंख्य तालाब अब गर्मी के पहले ही सूख जाते हैं। इसलिए सूखा और अकाल से मुकाबला के लिए जरूरी है कि पुराने तालाबों का जीर्णोद्धार किया जाए और उनमें भरे गाद को उर्वरक के तौर पर इस्तेमाल किया जाए। इससे दो फायदे होंगे, एक ओर जहां तालाब के तल गहरे होंगे और अधिक से अधिक पानी का संग्रहण होगा वहीं दूसरी तरफ उर्वर गाद के कारण खेतों की उर्वरा क्षमता बढ़ेगी। जोरिया और नदियों का समुचित और व्यवस्थित ट्रीटमेन्ट करने की जरूरत है। इसमें दो बातों पर ध्यान देने की जरूरत है। पहली, यह कि इनके कैचमेन्ट ट्रीटमेन्ट किये जायें और कैचमेन्ट ट्रीटमेन्ट के तहत् ऐसे पेड़-पौधे लगाये जायें जो मिट्‌टी को पकड़ते हों और मिट्‌टी की नमी को बनाएं रखते हों। दूसरी,

जोरिया–नदी ट्रीटमेन्ट के तहत उन्हें गहरा बनाने के लिए उनके बालू को उड़ाहने की प्रक्रिया तेजी से चलाई जाये। यह बालू अन्य प्रकार के उद्योगों के विकास में और कंक्रीट भवनों के निर्माण में उपयोगी साबित होगा।

उक्त कार्यों को जमीन पर उतारने के लिए महज सरकार और उनके नुमाइन्दे हाथ बढ़ाते हैं तो शायद सफलता नहीं मिलेगी। इसके लिए जरूरी है समुदाय का साथ लेना। यह काम सरकार, समुदाय और संस्थाओं के त्रिपक्षीय सहयोग से ही साकार किया जा सकेगा। अंग्रेजों ने जो गलती की वही हमारे आजाद भारत ने दुहराया। आजाद भारत की सरकार ने जो गलती की, लगभग उसी नक्शे कदम पर झारखंड की सरकार अब तक चलती रही है। परिणामतः झारखंड 'प्यासमरी' और अकाल का शिकार होता चला जा रहा है। इसलिए अगर उक्त दोनों समस्याओं का समाधान ढूंढना है तो लोकज्ञान और लोकविज्ञान का सम्मान करते हुए समाज और समुदाय को इसके विकास के केन्द्र में रखना पड़ेगा। सरकार और संस्थाएं महज उत्प्रेरक के तौर पर काम करें तो यह प्रक्रिया ज्यादा सार्थक साबित हो सकती है। यही प्रक्रिया झारखंड की आजीविका, आजादी और आनंद को आकार देंगी, तभी झारखंड स्वशासी, स्वावलंबी और स्वाभिमानी बन सकेगा। ■

खाद्य सम्प्रभुता : समय की मांग

'राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा बिल 2011' संसद ने पारित कर दिया। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् ने इसे मंत्रीमंडल को भेजा जिसे ग्रुप ऑफ मिनिस्टर्स ने स्वीकृति दे दी। यह सवाल ज्यादा मौजू है कि भारत की भूखी जनता, गरीबी रेखा से नीचे जीने वाली आबादी के लिए, खाद्य की सुरक्षा कैसे सुनिश्चित की जाय? शायद संसद में बहस का दायरा 'खाद्य सम्प्रभुता' तक नहीं फैलेगा। इस बहस को फैलाने की कोशिश अगर कहीं से हुई भी तो इसे जानबूझ कर दबा दिया जाएगा। क्यों? क्योंकि 'खाद्य सुरक्षा' नेताओं, सत्ताधीशों और नौकरशाहों की सुरक्षा का सबसे बड़ा हथियार है। 'खाद्य सुरक्षा' भूखी जनता की सुरक्षा के लिए कम, लूटने वाले तबकों की सुरक्षा के लिए ज्यादा है।

कुछ वर्ष पहले संसद के एक सत्र (ठीक-ठीक तिथि याद नहीं) में 'भूख' और 'भुखमरी' पर बहस निर्धारित थी। लेकिन संसद लगभग खाली थी। (प्रायः सभी दलों के न सिर्फ अदना सांसद, बल्कि महत्वपूर्ण नेता भी संसद से गायब थे) यह दर्शाता है कि हमारे सांसद भूख से लड़ने के लिए कितने प्रतिबद्ध हैं! यह तो आने वाला समय ही बताएगा कि कितने सांसद संसद में उपस्थित रहे और कितनों ने इस पर गंभीर बहस की। खैर बात खाद्य सुरक्षा तक ही सीमित रखी जाए।

सुरक्षा का तात्त्विक अर्थ होता है किसी से सुव्यवस्थित रक्षा की 'कामना' या 'याचना' करना। यानी खाद्य के मामले में जनता सत्ता प्रतिष्ठानों के सामने 'याचक' की मुद्रा में खड़ी रहेगी और राज्य तथा केन्द्र की सत्ता शतरंज के मोहरें बिछाती रहेगी। केन्द्र के विरोधी राज्य सरकारें और राज्य की विरोधी केन्द्र सरकार एक दूसरे के ऊपर अनाज की कमी, उचित जन वितरण प्रणाली का अभाव जैसे आरोप लगाते हुए 'शह' और 'मात' के खेल खेलती रहेंगी। इस

खेल में पिसती रहेगी 'भूख' और 'भुखमरी' की शिकार जनता या यों कहें कि भूख और भुखमरी की कगार पर पहुंचा दी गई जनता।

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा के प्रस्तावित विधेयक के चैप्टर- VI में सब्सिडी प्राप्त खाद्यान्न के अधिकार का वर्णन किया गया है। इसकी धारा- 21 में आवास की पहचान के बारे में चर्चा की गई है। जिसमें कहा गया है कि केन्द्र सरकार द्वारा चिह्नित आवास को प्राथमिक आवास के रूप में पहचान की जाएगी और उन्हें समुचित राशन कार्ड इसलिए दिया जाएगा ताकि उन्हें निर्धारित दर पर खाद्यान्न मिल सके। इस निर्धारित आवास को धारा- 22 के अनुसार 'ग्रामीण प्राथमिक आवास' कहा जाएगा और उन्हें सब्सिडी पर खाद्यान्न मुहैया कराया जाएगा। उसी तरह से धारा- 23 में ऐसे आवासों को 'शहरी प्राथमिकता प्राप्त आवास' के नाम से जाना जाएगा। 'प्राथमिकता प्राप्त आवास' के संबंध में यह कहा गया है कि इसके निर्धारण का अधिकार, उसमें और नाम जोड़ने का अधिकार केन्द्र सरकार का होगा। धारा- 24 में यह कहा गया है कि प्राथमिकता प्राप्त आवास को (शहरी या ग्रामीण) 7 किलोग्राम खाद्यान्न प्रति माह उपलब्ध कराया जाएगा। जिसकी अधिक कीमत धारक को चावल के लिए तीन रु. प्रति किलोग्राम, गेंहू के लिए 2 रुपया और मीलीट के लिए 1 रु. प्रति किलोग्राम की दर से भुगतान करना पड़ेगा। एकल परिवार वाले माह में कम से कम 14 किलोग्राम खाद्यान्न पा सकेंगे। वहीं धारा- 25 में 'सामान्य आवास' को (शहरी या ग्रामीण) 4 किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति माह सरकारी निर्धारित दर पर मिलेगा। इसमें भी एकल सदस्यीय आवास को 8 किलोग्राम प्रति माह मिलेगा।

अगर उक्त प्रावधानों का विश्लेषण किया जाए तो प्रति व्यक्ति निर्धारित प्राथमिकता प्राप्त परिवारों के लिए प्रति व्यक्ति प्रतिदिन महज 230 ग्राम खाद्यान्न बैठता है यानी एक गरीब को प्रति माह प्रति जून (शाम) लगभग 77 ग्राम भोजन उपलब्ध होगा। नीति निर्धारकों को अगर यह बात समझ में नहीं आती है कि एक मजदूर या किसान जो प्रतिदिन करीब 10 से 12 घंटे कमरतोड़ मेहनत करता है, उसे कम से कम प्रतिदिन कैलोरी के हिसाब से 800 ग्राम (2800 कैलोरी) अनाज अवश्य चाहिए। फिर किस आधार पर सरकारी नीति निर्धारकों ने विशेष प्रावधान प्राप्त व्यक्तियों के लिए महज

230 ग्राम अनाज प्रति व्यक्ति मुहैया कराने की बात की है! क्या यही खाद्य सुरक्षा है?

खाद्य सुरक्षा के चैप्टर- VII की धारा 26 से लेकर 32 तक जनवितरण प्रणाली पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें खरीद-बिक्री पर चर्चा करते हुए कहा गया है समुचित सरकार (संबंधित राज्य सरकारें) 10 किलोमीटर की परिधि में किसानों के अनाज की खरीद बिक्री का केन्द्र स्थापित करेगी। धारा- 32 में कहा गया है कि 3 किलोमीटर की अधिकतम दूरी पर उचित मूल्य की दुकान होगी। इन दुकानों के लिए स्वयं सहायता समूह और कॉपरेटिव या ग्राम पंचायत या एन.जी.ओ. को इसके लिए प्राथमिकता मिलेगी।

यहां यह सोचने की जरूरत है कि जन वितरण प्रणाली या उचित मूल्य की दुकानों की हालत भारत के अधिकांश राज्यों में काफी खस्ता है। अनुभव तो यही बताते हैं कि अधिकांश कॉर्डधारकों को राशन की दुकान से खाद्यान्न नहीं के बराबर मिलते हैं। यहां तक कि कार्ड धारकों की कार्ड राशन दुकान वाले अपने यहां गिरवी रख लेते हैं।

ऐसी परिस्थिति में खाद्य सुरक्षा के लिए की गई व्यवस्था कहीं से भी उपयुक्त नहीं लगती। यह पूरी व्यवस्था जहां एक तरफ नौकरशाही के कब्जे में रहेगी, वहीं दूसरी तरफ लाल फीताशाही के कारण स्वयं सहायता समूह, पंचायत या अन्य सहकारी व्यवस्था भ्रष्टाचार में लिप्त होने को विवश होगी। इस प्रकार खाद्य सुरक्षा भ्रष्टाचारियों की सुरक्षा और भ्रष्टाचार बढ़ाने वाली प्रक्रिया बन जा सकती है।

इसलिये यह जरूरी है कि बहस को खाद्य सुरक्षा के दायरे से बाहर लाकर खाद्य सम्प्रभुता की तरफ मोड़ना होगा। सम्प्रभुता का मतलब ही होता है- निर्णय लेने, नियोजन करने और क्रियान्वयन की पद्धति को आगे बढ़ाने का सत्वाधिकार। यानी निर्णय की गुलामी तथा सत्ता निर्भरता से मुक्ति। खाद्य संप्रभुता इसी दायरे की जीवंत प्रक्रिया है। स्वावलंबी जीवन और जीविका की पद्धति है।

खाद्य के मामले में भारत कभी परनिर्भर नहीं था। ब्रितानी औपनिवेशिक शासन के दौरान भी नहीं। जबकि अंग्रेजी सत्ता ने कई ऐसे सुनियोजित प्रयास किये- जिससे यहां की खेती की पद्धति और सिंचाई की सामुदायिक व्यवस्था पर

चोट पहुंची। बावजूद इसके हमारा समाज-समुदाय खाद्य के मामले में स्वावलंबी था। समाज पूरी तरह से मात्र चावल और गेहूं जैसे खाद्य पदार्थ पर निर्भर नहीं था। बल्कि खाने के लिए विभिन्न प्रकार के अनाज, दलहन, साग-सब्जियां, फल-मूल, दूध-मक्खन सहित सैकड़ों प्रकार के जंगली खाद्य पदार्थ पाये और उगाये जाते थे। भोजन की विविधता और भिन्नता से समाज ज्यादा पुष्ट और स्वस्थ था। पशुपालन, कुक्कुट पालन, मछली पालन की प्राकृतिक व्यवस्था, खेती, बागवानी और जंगल की उपलब्धता से गुंथी हुई थी। खेतों की बनावट, मेड़ों का निर्माण तथा खेतों में पानी की आवक-जावक व्यवस्था और खेतों में प्रयोग होने वाले बीज और प्राकृतिक जैविक खाद का संतुलन ही कुछ ऐसा था कि खेत महज अनाज ही नहीं देते थे बल्कि हरी सब्जियों और मछलियों के भी भंडार थे। पौष्टिक सब्जियों और मछलियों का केन्द्र बन जाता था खेत। आज स्थिति बदल गई है। क्योंकि हमने खेतों को जहरीले रासायनिक खादों और कीटनाशकों का प्रयोगस्थल बना दिया है। परिणामतः अनाज ही हम पैदा कर पाते हैं- जहरयुक्त अनाज जिसमें महज पौष्टिकता की ही कमी नहीं होती, रस-स्वाद भी नहीं होता। पेट भरने के नाम पर यह सब कुछ हो रहा है और बीमारी बढ़ा रही है। यहां तक कि कैंसर के मरीज बढ़ रहे हैं। पंजाब में चलने वाली कैंसर ट्रेन इसका ज्वलंत उदाहरण है।

इसका अनुभव सुनाते हुए लालपुर (मधुपुर, झारखंड) के युवा किसान इन्द्रदेव कहते हैं - 'खेती में रासायनिक प्रयोग ने जमीन को मता दिया है।' जमीन नशेबाज हो गई है। हमने अधिक उत्पादन के लिए जमीन को 'नशेबाज' बना दिया, रासायनिक खाद जमीन के लिए शराब की तरह है। जिस प्रकार गरीब मजदूर दारू पीकर शारीरिक श्रम करता है, घंटों काम करता है, अधिक काम करता है। अधिक लाभ के लिए मालिक लोग मजदूर को दारू भी पिलाते हैं, उसको दारूबाज बनाते हैं। कुछ उसी तरह हमने जमीन के साथ सलूक किया। अधिक उत्पादन के लिए हमने उसे शराब की तरह रासायनिक खाद खिलाया-पिलाया। अधिक पैदावार ली। अधिक लाभ लिया। कुछ सालों बाद जमीन को रासायनिक खाद की लत लग गई। जैसे किसी इंसान को दारू की लत लग जाती है। तब हमने और अधिक रासायनिक खाद दिया। सरकार ने भी इसके लिए सब्सिडी का इंतजाम किया। ताकि हम अधिक उत्पादन के

लिए जमीन को रासायनिक खाद देने से न चूकें। आज भी यही चल रहा है। जमीन दिनों-दिन ज्यादा नशेबाज बन रही है। ठीक उसी तरह जैसे पहले इंसान शराब को पीता है लेकिन जब लत लग जाती है तो शराब इंसान को पीने लगती है। आज यही स्थिति जमीन की हो गई है। अधिक अन्न उपजाने के नाम पर एक भयंकर संकट किसानों के सामने आ खड़ा हुआ है।

तत्कालीन प्रधानमंत्री ने खुद स्वीकार किया था कि देश जिस तेजी से आगे बढ़ रहा है और देश के बच्चे अभी जितने कुपोषित हैं, यह राष्ट्रीय शर्म की बात है। क्या यह राष्ट्रीय शर्म की बात अभी समझ में आई, जब नंदी फाउंडेशन' और 'सिटिजन एलायंस अगेंस्ट माल न्यूटरेशन' द्वारा तैयार रिपोर्ट ने इस सच्चाई को उजागर कर दिया कि देश के 42 प्रतिशत बच्चे, भयंकर कुपोषण के शिकार हैं? संयोग से इस रिपोर्ट के लोकार्पण के समय न सिर्फ प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह उपस्थित थे, बल्कि योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोन्टेक सिंह अहलुवालिया भी उपस्थित थे। क्या इन दोनों महानुभावों को उस दिन राष्ट्रीय शर्म नहीं आई थी जब सरकार की तरफ से गरीबी रेखा का मानदंड सर्वोच्च न्यायालय में सौंपते हुए गांवों के लिए 26 रु. और शहरों के लिए 32 रु. प्रतिदिन की राशि निर्धारित की गई थी। यह शर्म तब क्यों नहीं आई थी जब अर्जुन सेन गुप्ता कमिटी की रिपोर्ट में 87 करोड़ लोगों को प्रतिदिन 20 रु. से भी कम की आमदनी का आकलन किया गया था। 16 करोड़ लोगों की आमदनी तब 12 रु. से भी कम आंकी गई थी। पिछले नौ वर्षों से यू.पी.ए.- 1 और यू.पी.ए.- 2 का राज्य कायम था फिर भी इस पर गंभीरता से विचार क्यों नहीं हुआ? शब्दों में कुपोषण के लिए 'शर्म' और कर्मों में कुपोषण बढ़ाने वाली नीतियां 'धर्म' यह दोहरा आचरण 'हिप्पोक्रेसी' नहीं तो और क्या है? इस रिपोर्ट में चौंकाने वाले तथ्य भी उभर कर सामने आए हैं कि 40 प्रतिशत बच्चों का वजन सामान्य से बहुत कम और 60 प्रतिशत बच्चों की सामान्य वृद्धि नहीं हो रही है। यानी दो तिहाई भारत आने वाले दिनों में कुपोषण और मंद बुद्धि का भारत बन जाएगा। देश के सर्वेक्षित जिलों में बिहार के 22, झारखंड के 15, यू.पी. के 40, एम.पी. के 12 राजस्थान के 10 और उड़ीसा के 5 जिले शामिल हैं। यानी उड़ीसा को छोड़ दें तो सभी जिले हिन्दी प्रदेशों के हैं। हिन्दी बेल्ट आखिर क्यों भयंकर कुपोषण का शिकार हो रहा

है? झारखंड के 15 जिलों में अधिकांश जिले आदिवासी बहुल हैं। क्यों हिन्दी प्रदेश और आदिवासी जिले इसके लिए अभिशप्त हैं? क्या इसलिए नहीं कि इन इलाकों में सामंती और पिछड़ी हुई मानसिकता व्याप्त है? जहां महिलाओं और बच्चियों को दोहरे मानदंड का शिकार होना पड़ता है। लेकिन आदिवासी क्षेत्र में तो ऐसा नहीं होता। फिर ऐसा क्यों?

इस पर शासन, प्रशासन, समाज और संस्थान को गंभीरता से विचार करने का वक्त आ गया है। यह सिर्फ राष्ट्रीय शर्म की बात नहीं है बल्कि यह अंतर्राष्ट्रीय शर्म की बात भी है। क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यह समझौता हो चुका है कि 6 वर्ष तक के बच्चों को सुपोषित करने की जिम्मेवारी संयुक्त राष्ट्र संघ की भी है। इसके लिए 'यूनिसेफ' जैसी संस्थाएं अरबों रुपए हर वर्ष पानी की तरह बहा रही हैं। करोड़ों रुपए तो अपना ढांचा खड़ा रखने के पीछे खर्च कर रही हैं। फिर यह स्थिति क्यों? इसी तरह से क्या यह उन संस्थाओं के लिए भी शर्म की बात नहीं है, जो बच्चों के विकास और राहत के नाम पर अरबों रुपए खर्च कर रही हैं?

यहां इस बात पर गंभीरता से सोचने की जरूरत है कि जब तक ऐसी नीतियां और तकनीक, अमल में लाई जाती रहेंगी, जो आजीविका के परम्परागत साधन को खत्म करेंगी, तो बच्चों को कुपोषण से कैसे बचाया जा सकेगा? एक तरफ देश में संचालित उपक्रम लोगों को जल, जंगल और जमीन से उजाड़ रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ मध्याह्न भोजन की याचक परम्परा कायम की जा रही है, तो क्या इससे कुपोषण दूर होगा? पोषण तो हमारी उपज के वैसे अनाज से होते थे जो देखने में तो मोटे थे लेकिन पोषक तत्वों से भरे पड़े थे। वैसी जंगली उपज होती थी, जिन्हें खाने और चबाने मात्र से पोषक तत्व मिल जाया करते थे। वैसे जलज पदार्थ थे जिसको खाने से पोषक तत्व के साथ-साथ विटामिन व अन्य खनिज पदार्थ भी शरीर को मिल जाया करते थे। आज की विकास की प्रक्रिया ने जंगल को उजाड़ा, नदियों को प्रदूषित किया, खेतों को जहरीले रासायनिक खादों और कीटनाशकों से भर दिया। फिर पोषण मिले तो किससे मिले? उधार और उपहार में मिली जिंदगी और आजीविका के साधन कुपोषण बढ़ाते हैं। आज यही हो रहा है। सरकार की कृपा, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की दया और कॉरपोरेट के आश्वासन से कुपोषण नहीं कमेगा, मिटने

की बात को बहुत दूर है। इसलिए जरूरी है सरकार अपनी नीतियों के लिए शर्म करे और वैसी नीतियां अपनाये जो आजीविका के प्राकृतिक संसाधनों को बढ़ा सके। समाज के अभिक्रम को जगा सके। तभी बात बनेगी और भारत का बचपन कुपोषण से बच पाएगा। अन्यथा हमें कुपोषित और विकलांग भारत के लिए तैयार रहना चाहिए।

शायद इन्हीं बातों और संभावित संकटों का सामना करने के लिए आजादी के इतने दिनों बाद हमें विवश होकर खाद्य सुरक्षा का कानून बनाना पड़ रहा है। वास्तव में हमें इस कानून को बनाने के पीछे की मंशा समझना जरूरी है। डब्ल्यू.टी.ओ. के दस्तावेज पर हस्ताक्षर के बाद उन तमाम देशों को अपने ही देश के भीतर की तमाम नीतियां और कानून बनाने की विवशता है, जिन्होंने इसकी सदस्यता ग्रहण की है। भारत अपनी कृषि नीति पहले ही इसके अनुरूप बना चुका है, अब नीति के अनुरूप एक्ट बनाना भी इसकी विवशता है। सरकार के सामने अब कोई दूसरा चारा नहीं है। इसलिए खाद्य सुरक्षा के नाम पर सभी को भोजन की सुरक्षा देने हेतु ऐसे कानून बनाने पड़ेंगे जो 'दूसरी हरित क्रांति' के नाम पर तेजी से खेती का 'निगमीकरण' (कॉरपोरेटाइजेशन) करेगा। किसानों के हाथ से जमीन लेकर खेती का तेजी से 'निगमीकरण' होगा। पहली हरित क्रांति के बाद खेती जो हमारी संस्कृति थी, उद्यमिता में बदल गई। अब खेती को उद्यमिता से बदलकर उद्योग में तब्दील किया जाएगा। तेजी से खेती का मशीनीकरण होगा। आनुवांशिक बीजों का इस्तेमाल होगा। अमेरिका या यूरोप के पैटर्न पर खेती आगे बढ़ेगी। किसान भूमिहीन हो कर उसी खेती के मजदूर बनेंगे या फिर पलायन करने को विवश होंगे। यानी भोजन जो अब तक कुछ हद तक किसानों के कब्जे में था, खाद्य सुरक्षा के नाम पर कंपनियों के कब्जे में हो जाएगा यानी भोजन का केन्द्रीकरण होगा, भोजन का 'एकरूपीकरण' होगा।

इसलिए खाद्य संकट से निपटने के लिए जरूरी है कि खेती को पुनः खाद्य की विविधता की तरफ मोड़ा जाय। सजीव खेती की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जाय तथा खेती में परम्परागत प्रयोगों और अद्यतन उन्नत तकनीक के बीच संतुलन कायम किया जाय। वैसे देसी बीजों का प्रयोग किया जाय जो कम पानी में भी अच्छी फसलें दे सकते हैं और बाढ़ की स्थिति में भी तन

कर खड़े रह सकते हैं। यानी खाद्य सम्प्रभुता ही भोजन के मामले में हमें स्वावलम्बी बना सकती है।

अनाज, साग-भाजी, फल-फूल से भूख मिटती है। इसमें मांसाहार भी शामिल किए जा सकते हैं। शाकाहार या मांसाहार सबों के उपार्जन और उत्पादन के लिए जमीन चाहिए। सबों के विकास के लिए शुद्ध पानी और जंगल चाहिए। लेकिन आज क्या स्थिति है- जल, जंगल व जमीन की? भूख मिटाने का दावा करने वालों ने एक-एक कर इन प्राकृतिक धरोहरों पर कब्जा करना शुरू कर दिया है। इन्हें तेजी से विनष्ट किया जा रहा है। दुनिया में इस शब्दावली को प्रचलित कर दिया गया है कि जल, जंगल जमीन सिर्फ वस्तु हैं। इससे जितना संभव हो मुनाफा कमाया जा सकता है। मुनाफे की इस मानसिकता ने भूख को भी मुनाफा कमाने का एक कारक मान लिया है। परिणामतः भूख तो मिट नहीं रही, भुक्खड़ों की संख्या जरूर बढ़ती चली जा रही है। इसलिए भूख मिटाने की व्यूह रचना में स्पष्ट नियम लोकाभिमुख नीति और संवेदनशील नीयत की जरूरत है। आबादी को अगर हम बोझ के रूप में देखेंगे तो आबादी हमारे लिए संकट पैदा करेगी। आबादी को 'बोझ' नहीं 'बल' मानकर उसके हाथ और दिमाग का सदुपयोग करना चाहिए। लेकिन अफसोस यह है दुनिया के कथित विकसित देश आबादी को बल नहीं बोझ मानते रहे हैं। परिणामतः वहां जन्म दर नकारात्मक दिशा की ओर मुड़ती रही और देश बूढ़ों का देश बनता चला गया। क्या आने वाले कुछ वर्षों में हमारी यह मानसिकता हमारे देश को भी बूढ़ों का देश बनाकर नहीं छोड़ देगी? इसीलिए यह जरूरी है कि आबादी और खाद्य सम्प्रभुता की प्रक्रिया को एक दूसरे से जोड़ कर देखा जाए और इसके बीच संतुलन स्थापित किया जाए। क्या खाद्य सुरक्षा का संभावित कानून इस दिशा में सोच कर बनाया जा सकेगा? ■

पानी-पानी, अपना पानी सबका पानी

पानी-पानी
बच्चा-बच्चा
हिंदुस्तानी
मांग रहा है
पानी-पानी
अपना पानी
मांग रहा है हिंदुस्तानी

'जल'+'वायु' संकट के इस दौर में रघुवीर सहाय की कविता की ये पंक्तियां हिंदुस्तान का सच बयां करती हैं। करीब 40 साल पहले मोहनपुर, देवघर (झारखंड) के ग्रामवासियों के बीच सहायजी ने यह कविता सुनाई थी। खूब तालियां बजी थीं। कविता में 'अपना पानी...' पंक्ति पर तो गांववासी झूम उठे थे। वे ताली बजाते-बजाते थम कर अपनी आंखें पोंछने लगते थे। रह-रहकर उनकी आंखों का पानी छलक उठता था।

कविता-पाठ के बाद गांववाले सहायजी को घेरकर बैठ गए। वे देर तक उनसे बतियाते रहे-अपने गांव-घर की बातें। समाज की बातें। अपना पानी, जो घर गांव-समाज को जोड़ता था, उसके घटने और बिछुड़ने की बातें। पानी के छिनने-छीनने की बातें। देर रात जब उठे तो कविता-जल में नहाये ग्रामवासियों ने जाना कि जो कुछ वे बतिया रहे थे, उसे सहाय जी ने एक शब्द में बांधा-बरतना। पानी को बरतना। बरसता पानी, ठहरा पानी, बहता पानी। जैसा बरतो, वैसा पानी पाओगे-अपना बनके प्यास बुझायेगा या पराया होके प्यास बढ़ायेगा। यही तो कहा था रघुवीर बाबू ने।

आज पूरी दुनिया में पानी को लेकर बहस छिड़ी है। कई सवाल, सवाल बन गूंज रहे हैं कि पानी पर किसका अधिकार है? कि क्या इस प्रकृति प्रदत्त तत्व पर राज्य का अधिकार है? कि क्या जल वैयक्तिक संपत्ति है? क्या बरसते-ठहरे-बहते पानी को निजी संपत्ति बनाया जा सकता है? पानी को निजी संपत्ति बनाया जा सकता है? पानी का निजीकरण, व्यवसायीकरण, पानी को उत्पाद के रूप में बेचने की नीति और प्रक्रिया मानव कल्याण और सामाजिक-आर्थिक विकास के किस चिंतन का परिणाम है? अगर ध्यान से देखें तो इन सारे सवालों का केंद्रीय सूत्र है-बरतना। पानी को बरतने के विविध सूत्रों को पहचाने बिना किसी भी सवाल का सही जवाब संभव नहीं है।

लेकिन आजकल बहस का शोर इतना तेज है कि हर समाज और देश में आम जन के कुछ सहज-सरल सवाल गुम हो गए हैं-बेमानी हो गए हैं-कि आखिर उक्त सवाल क्यों पैदा हुए? किन बुनियादी समस्याओं की उपज हैं उक्त सवाल? ये सवाल किस सभ्यता और किस संस्कृति की देन है?

क्या इसका मायने यह है कि उक्त बहस पानी को बरतने के सूत्रों की पहचान करने की कोशिश का हिस्सा नहीं है?

21वीं सदी में उक्त सवालों का शिकंजा इतना व्यापक और मजबूत होता जा रहा है कि उसमें दुनिया के तमाम देश और समाज फंसते जा रहे हैं। इसमें वे देश और समाज शामिल हैं जिनके प्रभुवर्ग विकास की आधुनिक अवधारणा और भूमंडलीकरण (ग्लोबलाइजेशन) की प्रक्रिया के जनक एवं हिमायती हैं। वस्तुतः वे ही ये सवाल पैदा कर रहे हैं ताकि उनके लक्ष्य और इरादों को ही सही समाधान मान लिया जाये। वे चाहते हैं कि उक्त सवालों में फंस कर देश-समाज का आम इन्सान पानी के प्रति अब तक विकसित विविध सांस्कृतिक दृष्टि और पानी को बरतने की व्यावहारिक समझ खो दे।

सवालों का जाल बुनने और फंसने-फंसाने के इस दृश्य का सर्वथा नया पहलू यह है कि जो शिकारी है और सवालों का जाल बुन रहा है, वह खुद इसमें फंसा नजर आता है। वह चतुर है, बलवान है, इसलिए जाहिर है कि वह अपने बनाये जाल में फंसेगा नहीं। फिर भी फंसा नजर आता है, तो इसका मतलब है कि यह दूसरों को फंसाने की उसकी चाल है। शिकारी अपने जाल में खुद फंसा दिखता है ताकि किसी भी भोले-भाले शिकार के मन में डर

या संशय न पैदा हो। शिकार यह देखकर आश्वस्त रहे कि जब शिकारी भी जाल के अंदर है तो फिर इसे फंसना क्यों माना जाये और, खुद फंसना कबूल कर ले। अब तो सवालों का जाल इस कदर उलझ गया है कि इसमें कौन शिकारी है और कौन शिकार, यह पहचानना मुश्किल है।

सचमुच इस बहस में शामिल अधिसंख्य प्रभुओं की नजर में पानी महज एक संसाधन है। ऐसा संसाधन जो जरूरी तो है लेकिन दुर्लभ और सीमित है। यह स्थिति बाजार के अन्य उत्पादों की तरह पानी को भी उत्पाद के दायरे में बांधने को मजबूर करती है। बेचने-खरीदने को मजबूर करती है। इसलिए सीमित स्टॉक और बढ़ती मांग की स्थिति में अन्य उत्पादों पर बाजार का जो नियम लागू होता है वही पानी पर भी लागू होना चाहिए। पानी का व्यवसायीकरण ही समस्या का समाधान है और इसके लिए पानी को सरकारीकरण और निजीकरण के दायरे में लाना होगा।

दूसरी ओर इस बहस में सिर्फ श्रोता-दर्शक बने रहने को मजबूर प्रजा की नजर में पानी से जीवन है-पानी ही जीवन है-अमृत है, इसलिए वह मानती है कि पानी महज संसाधन नहीं हो सकता। यह तो धरोहर है। धरोहर को सिर्फ तात्कालिक उपयोगिता और दाम-लाभ के दायरे में नहीं रखा जा सकता। जो लोग पानी को संसाधन मानते हैं, वे इसे उपयोगिता पर अवलंबित खरीद-बिक्री की वस्तु बना देते हैं। तभी बाजार और बाजार को संचालित करने वाली ताकतें पानी को नियंत्रित करने लगती हैं। और, तब न सिर्फ बच्चे पानी के लिए तरसने लगते हैं बल्कि धरती भी प्यासी रह जाती है। लेकिन जब हम पानी को धरोहर के रूप में देखते हैं तो उसके उपयोग के क्रम में ही उसके संरक्षण और संवर्द्धन के वैसे सारे उपाय करते हैं जैसे बच्चे को सहेजने के लिए मां करती है। तभी पानी और प्राणी का रिश्ता जीवंत होता है। प्रकृति सुजलाम-सुफलाम बनती है।

इस दूसरे दृष्टिकोण के आलोक में विश्वव्यापी बहस में यह सवाल उठना चाहिए कि पानी संसाधन है या धरोहर?

हमारे पूर्वजों ने पानी को धरोहर के रूप में देखा है। धरोहर यानी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपने, सजाने और संवारने का प्राकृतिक उपादान। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने प्रकृति प्रदत्त पानी के संग्रहण की विभिन्न विधाओं

और तकनीकों का इस्तेमाल किया था। इन्हीं विधाओं और तकनीकों में से एक है-तालाब। तालाब यानी पानी को बरतने का ऐसा उपाय जो धरोहर को प्रकृति से अलग नहीं करे, उसकी नित नवीकृत होने की प्राकृतिक गुण-क्षमता को नष्ट न होने दे।

तालाब पानी के भंडारण की व्यवस्था मात्र नहीं, बल्कि ऐसा लोक विज्ञान और कला है, जिससे एक संस्कृति का सृजन होता है। इसीलिए हमारे सांस्कृतिक विधानों में तालाब, कुंआ, नदी आदि को बार-बार स्मरण करने और उनसे जीवंत रिश्ता स्थापित करने की प्रक्रिया और पद्धति समाहित है। जन्म, विवाह और मृत्यु के सारे विधि-विधानों में तालाब, कुंआ और नदी का स्पर्श, स्मरण और पूजन किया जाता है। और, ऐसा सभी संस्कृतियों में होता है।

तालाब हमारे जेहन, जीविका और जज्बात से जुड़े हैं। वे सारे पुराने तालाब आज भी जीवंत और उपयोगी हैं जिन्हें हमारे पूर्वजों ने बनवाया था। आज के तालाब सूखे रहते हैं। खासकर सरकारी तालाब। उन तालाबों को सरकार और उसके ठीकेदार सूखे मन से बनाते हैं। सूखे मन से बने तालाबों में पानी कैसे रह सकता है?

तालाब एक ऐसा जल कुंभ है जो विभिन्न प्रकार के जीवों का निर्माण करता है और इन जीवों का सीधा संबंध हमारी संस्कृति, हमारी जीविका और जज्बात से है। इसलिए हमारे पूर्वजों ने तालाब के निर्माण, संरक्षण और संवर्द्धन के विभिन्न उपाय किये थे। उसकी साफ-सफाई और समय-समय पर उसकी उड़ाही पर विशेष ध्यान दिया था। समुदायिक स्वशासन से स्वानुशासन को बढ़ावा मिलता था। इसलिए अधिकांश पुराने तालाब आज भी जीवित और जीवंत हैं। ■

कोपेनहेगन सम्मेलन : विफलता के बीच सफलता की कहानी

यह कहना पूरा सच नहीं है कि कोपेनहेगन सम्मेलन यानी कोप-15, जो 2009 में हुआ था, पूरी तरह से विफल हो गया। सफलता और विफलता के पैमाने पर यदि कोपेनहेगन सम्मेलन को आंका जाए तो यह कहना ज्यादा सही होगा कि वहां सत्ता विफल रही, पर जनता अपने मकसद में सफल साबित हुई।

यह पहले से भी आशंका थी कि कथित विकसित देश विकासशील देश और छोटे देशों के प्रस्तावों को स्वीकार नहीं करेंगे। यह सच साबित हुआ। लेकिन विकासशील और छोटे देशों ने अपनी एकजुटता और 'क्लाइमेट क्राइसिस' को दूर करने के प्रति प्रतिबद्धता जाहिर कर यह साबित कर दिया कि धरती को बचाने के लिए हम सब जितने तत्पर हैं, विकसित देश उतने ही अनुदार और समस्याओं को बढ़ाने के लिए जिम्मेदार हैं।

एक तरफ जहां अमेरिका के राष्ट्रपति ओबामा के प्रति लोग आशा भरी निगाह से देख रहे थे, वहीं दूसरी तरफ चीन और भारत के प्रधानमंत्री के कदम को उत्साहपूर्वक ले रहे थे। ओबामा का प्रभावकारी भाषण भी जी-77 को रिझाने में विफल रहा, वहीं चीन और भारत का वक्तव्य भी उन छोटे देशों को जो अपने को जलवायु संकट की इस विषम परिस्थिति में निःसहाय और डूबता हुआ महसूस कर रहे हैं, को अपनी तरफ आकर्षित करने में असफल रहा। इस प्रकार पूरी दुनिया के 193 देश जो कोपेनहेगन के इस सम्मेलन में जुटे थे, तीन खेमों में बंटते दिखे। एक तरफ जहां कथित विकसित देश जलवायु संकट के लिए अपने को जितना जिम्मेवार मानते हैं उससे ज्यादा जिम्मेवार विकासशील देश को मानते हैं, वहीं दूसरी तरफ विकासशील देश, विकसित देश को इसके लिए पूरी तरह जिम्मेवार मानते हैं। तीसरी तरफ छोटे-छोटे देश जो लैटिन अमेरिका, अफ्रीका और पूर्वी एशिया और पूर्वी यूरोप के हैं,

वे सब विकसित देशों सहित चीन और भारत जैसे विकासशील देशों को भी जलवायु संकट के लिए जिम्मेवार मानते हैं। इसलिए जी-77 के द्वारा इस संकट पर तैयार मसविदा को वे सब स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। इसमें महत्वपूर्ण भूमिका लैटिन अमेरिका और अफ्रीका के छोटे-छोटे देश निभा रहे हैं। इस तरह कोपेनहेगन में पूरी दुनिया तीन खेमों में बंटी हुई दिखी।

लेकिन यह सत्ता पर काबिज शासकों का नजरिया था। जबकि, दुनिया के तमाम असरकारी और विनाशकारी विकास के खिलाफ जुटे जनसंगठन और स्वैच्छिक समूह के लोग यह मानते हैं कि वास्तव में जलवायु संकट आज के विकास के चिंतन से उपजी हुई समस्या है। इसलिए इस समस्या का समाधान विचार, तकनीक, जीवन पद्धति और संस्कृति के संकट में तलाशना पड़ेगा। विकास का वह चिंतन जो प्रकृति और संस्कृति को विकृत और विनष्ट कर इंसान और प्रकृति को गुलाम बनाने पर निर्भर है और इस निर्भरता पर आधारित वैसी तकनीक विकसित हो रही है जिसने बेतहाशा प्रकृति का विनाश किया है, के खिलाफ पूरी दुनिया में प्रकृति केंद्रित विकास को बढ़ावा देना होगा तथा इंसान की आजादी, आजीविका और आनंद को बढ़ाने वाली संस्कृति को प्रस्थापित करने का रास्ता तलाशना पड़ेगा। यह चिंतन अब पूरी दुनिया के असरकारी लोग कर रहे हैं। यह चिंतन गांधी के उस चिंतन की तरफ मुड़ता हुआ दिख रहा है जिसमें गांधी ने कहा था कि प्रकृति इंसान की सभी जरूरतों की पूर्ति कर सकती है, लेकिन किसी एक इंसान की हवस (ग्रीड) की पूर्ति नहीं कर सकती।

कोपेनहेगन सम्मेलन में यह बात सभी तरफ चर्चा के रूप में दिखी। 12 दिसम्बर को जब एक लाख से ज्यादा असरकारी और स्वैच्छिक संगठनों के प्रतिनिधि सड़कों पर उतरे तो यह नारा चारों तरफ गूंजता हुआ सुनाई पड़ा -

'दूसरी दुनिया संभव है, (अॅनद्र वर्ल्ड इज पोसिबल)
दूसरी दुनिया आ रही है, (अॅनद्र वर्ल्ड इज कमिंग)
दूसरी दुनिया एक वास्तविकता है।' (अॅनद्र वर्ल्ड इज रियलिटी)

गगनभेदी इस नारे ने कोपेनहेगन सहित पूरी दुनिया को यह संदेश दिया कि वह दुनिया नहीं चल सकती जो क्लाइमेट को एक ट्रेड (व्यापार) के रूप में देख रही है बल्कि वह दुनिया चल सकती है जो क्लाइमेट (जलवायु) को

अपने जीवन अंग के रूप में देखती है। जल-वायु के बिना दुनिया का अस्तित्व संभव नहीं और न प्राणी उसके अभाव में जीवित रह सकते हैं। इसलिए जल और वायु का संकट महज तकनीक और विकास का संकट नहीं है, बल्कि यह जीवन पद्धति और चिंतन का संकट है। कथित विकसित देश यदि समय रहते नहीं चेते, तो पूरी दुनिया में प्रलय अवश्यंभावी है।

कोपेनहेगन की विफलता ने यह साबित कर दिया है कि जलवायु संकट के प्रति समुदाय और आमजन जितना गंभीर और जिम्मेवार है, कथित विकसित देशों के सत्ताधारी उतने ही गैरजिम्मेवार और समस्याओं के प्रति फूहड़ हैं। इसलिए कोपेनहेगन की विफलता के बाद उनकी निगाहें मैक्सिको 'कॉप-16' पर टिक गई हैं। लेकिन 'कॉप-15' से 'कॉप-16' तक की (कोपनहेगन से मैक्सिको) यात्रा तय करने में एक बड़ी भूमिका आमजन और समुदाय की होगी जिसकी चेतना विकसित करने में कोपेनहेगन सम्मेलन ने एक बड़ी भूमिका निभाई है। इस अर्थ में कोपेनहेगन सम्मेलन सफल रहा है क्योंकि जनता और समुदाय सजग और सचेत हो गए हैं और यही कोपेनहेगन सम्मेलन की विफलता में सफलता है।

('कॉप-15' के सम्पन्न होने के बाद यह कहा गया कि यह विफल रहा। इसकी खूब आलोचना हुई। क्योंकि जितनी अपेक्षा और आकांक्षा इससे पाली गई थी, कुछ भी पूरी नहीं हुई। शायद ऐसा इसलिए भी कहा जा रहा है कि 'कॉप-15 को महज सत्ता प्रतिष्ठान और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का अभिक्रम मान लिया गया था। लेकिन इस अभिक्रम के बीच एक समानांतर अभिक्रम चल रहा था 'क्लीमा -फोरम' में, जिसमें दुनिया भर के हजारों 'असरकारी' लोग जुटे थे, ने समुदाय की सहभागिता का सवाल उठा कर सत्ता प्रतिष्ठानों द्वारा आयोजित आयोजन को झकझोर कर रख दिया। इस अर्थ में यह सम्मेलन सफल माना जाना चाहिए। क्योंकि यहीं से आवाज उठी-'दूसरी दुनिया मुमकिन है।' तथा 'दूसरी दुनिया आ रही है-समुदाय के प्रयास से।') ■

कोपेनहेगन में उभरा समुदाय का स्वर

कोपेनहेगन सम्मेलन में जहां एक तरफ सरकारी मकहमे के लोग अपने पूरे रुतबे के साथ सक्रिय थे, वहीं दूसरी तरफ स्वैच्छिक संगठनों के लोग अपनी सादगी और सहजता के साथ जलवायु संकट से उबरने के उपायों पर गंभीरता से विचार-विमर्श करते दिखे। बेलासेंटर जिसे पुलिस छावनी में और हैलिकॉप्टर की गश्ती में संरक्षित और सुरक्षित बनाया गया था, वहीं क्लीमा फोरम बीच शहर में रहकर भी शांत और दत्त-चित्त होकर जलवायु संकट के उपाय ढूंढने में व्यस्त था।

क्लीमा फोरम में स्वैच्छिक संगठन और समुदाय के प्रतिनिधि जलवायु परिवर्तन और दुनिया में उभर रही समस्याओं पर चर्चा करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे थे कि समुदाय के स्वर का सम्मान किए बिना कोपेनहेगन सफल रह कर भी विफल साबित होगा। इसलिए यह जरूरी है कि समुदाय की बातें भी सत्ता प्रतिष्ठान के लोग सुनें और समुदाय पर जो जलवायु संकट का प्रभाव पड़ रहा है, उसे गंभीरतापूर्वक समझने की कोशिश करें। यह सही है कि कार्बन उत्सर्जन से धरती गर्म हो रही है और ओजोन लेयर में लगातार छिद्र बढ़ता जा रहा है, परिणामतः ग्लेशियर का पिघलते जाना बड़े पैमाने पर जारी है। इसका दूरगामी प्रभाव जीवन पर जरूर पड़ने वाला है। लेकिन समुदाय के जीवन पर जलवायु परिवर्तन का जो संकट अभी दिख रहा है, उसके बारे में विश्व के सत्ताधारी सजग और सचेत नहीं के बराबर दिखते हैं।

डेक्कन डेवलपमेंट सोसाइटी जो भारत के जहीराबाद में अवस्थित है, के निदेशक डॉ. पी.वी. सतीश, जिन्हें तीन दशक से जैविक खेती को विकसित करने का अनुभव है, साफ शब्दों में कहते हैं कि कोपेनहेगन में शामिल उन्नत देश जलवायु संकट की जड़ की तलाश करना नहीं चाहते, बल्कि वे महज

ऊपरी कारणों की तलाश कर समस्याओं का समाधान ढूंढना चाहते हैं। वास्तव में कोपेनहेगन सम्मेलन को एक तकनीकी और कानूनी सम्मेलन बना कर रख देने की साजिश उन्नत देशों की तरफ से हो रही है। वे कहते हैं कि कथित उन्नत खेती की प्रक्रिया को आगे बढ़ाकर 'एक्सक्लूसिव एग्रीकल्चर' (बहिष्कार करने वाली खेती) को बढ़ावा दे रहे हैं, जिसमें मानवीय संबंध बिगड़ता जा रहा है, इसकी जगह पर 'इन्क्लूसिव एग्रीकल्चर' (समावेशी खेती) को बढ़ावा देना जरूरी है जिसमें मानवीय संबंधों के साथ- साथ अन्य प्राणियों एवं प्राकृतिक उपादानों का समावेश होता है। इसे हम 'रिलेशन बिल्डिंग एग्रीकल्चर' (संबंधों को बढ़ाने वाला) भी कह सकते हैं। आज एग्रीकल्चर खेती के नाम पर जो कुछ हो रहा है, उसे एक शब्द में कहें तो 'रिलेशन इरोडिंग एग्रीकल्चर' (यानी संबंधों को क्षरित करने वाली खेती) कहा जा सकता है। डॉ. सतीश जोर देकर कहते हैं कि कोपेनहेगन सम्मेलन में देशों के साथ मानवीय संबंधों को विकसित करने का नहीं, जीवन शैली बदलने का नहीं, बल्कि सिर्फ टेकनोलॉजी में बदलाव लाने और जलवायु परिवर्तन को 'इको इंडस्ट्री' और 'इको बिजनेस' में बदलने की साजिश रची जा रही है। इसलिए 'इको बिजनेस' करने वाले 'लफंगों (लुम्पेन)' एवं नीतिकारों के हाथों से नेतृत्व छीन कर समुदाय के हाथ में देने की जरूरत है। वे यह भी कहते हैं कि फूड क्राइसिस (खाद्यान्य संकट) को महज खाद्यान्न संकट के रूप में नहीं देखना चाहिए बल्कि खाद्यान्न संप्रभुता के नजरिये से देखना चाहिए। यह संप्रभुता हमारी जैविक विविधता और समुचित तकनीकी विभिन्नता को बरकरार रखने का प्रयास है। इसलिए मैं कहता हूं कि विनाशकारी विकास से हुई प्रकृति की क्षति के उपचार का निदान समुदाय के पास है। इसका एक निश्चित घोषणा-पत्र लेकर हम समुदाय के लोग कोपेनहेगन पहुंचे हैं। समुदाय के इस घोषणा पत्र का सम्मान विश्व सत्ता के प्रतिनिधियों को करना चाहिए।

डॉ. सतीश के स्वर में स्वर मिलाते हुए घाना के अब्दुल मुनुश, जो घाना के एक्शन फॉर कम्युनिटी डेवलपमेंट के युवा प्रतिनिधि है, कहते हैं कि अब समय आ गया है- लेटिन अमरीका, अफ्रीका और एशिया के गरीब मुल्कों के समुदाय के प्रतिनिधियों को एकजुट होकर जैव विविधिता और खाद्य संप्रभुता की रक्षा करने का दायित्व निभाना चाहिए। जलवायु संकट हमारे हाथों से

हमारी खाद्य संप्रभुता और जैव विविधता को छीन रहा है। जहां एक तरफ सूखे की मार से पूरी फसलें बर्बाद हो रही हैं, वहीं दूसरी तरफ असामयिक बाढ़ से हमारी फसलें और जीवन तबाह हो रहे हैं। कोपेनहेगन सम्मेलन में शामिल सत्ताधारी प्रतिनिधि इस बात पर ध्यान न देकर जलवायु संकट के वायवीय मुद्दों को उछाल रहे हैं। समुदाय की आवाज के दबाव से उन्हें इन वायवीय मुद्दों से घसीट कर जमीनी मुद्दों पर लाना पड़ेगा। शायद कोपेनहेगन सम्मेलन (कोप-15) में यह न हो पाए लेकिन हम सबों को पूरी उम्मीद है कि मैक्सिको (कोप-16) के सम्मेलन में हम कामयाब हो पाएंगे।

ग्लोबल कॉल टू एक्शन एगेंस्ट पोवर्टी, अर्जेंटीना के प्रतिनिधि फ्यूनोलाक्रेगेन कहते हैं कि कोपेनहेगन में हम सब समुदाय के स्वर को जिस तरह उठाना चाहते थे, वह संभव नहीं हो पाया, क्योंकि दुनिया के गरीब मुल्कों के समुदाय के प्रतिनिधि साधन के अभाव में एकजुटता की प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ा पाए। इसलिए दमदार ढंग से हमारी आवाज यहां बुलंद नहीं हो पाई। फिर भी हमने जो यहां कोशिश की है उससे आशा की किरण यह दिखती है कि हम सब मैक्सिको में विश्व समुदाय सत्ता पर एक बड़ा दबाव बनाने में कामयाब हो पाएंगे। समुदाय हमारी ताकत है और समुदाय का चिंतन हमारी दिशा।

(कोपेनहेगन सम्मेलन को 'कॉप-15' कहा गया था। इस सम्मेलन में दुनिया के 193 देश के सत्ता प्रतिष्ठान के प्रतिनिधियों ने भागीदारी निभाई थी। लगभग 15 हजार प्रतिनिधियों का यह भारी-भरकम सम्मेलन राजनैतिक दृष्टि से पूरी तरह सफल तो नहीं हो सका लेकिन सामाजिक-सामुदायिक दृष्टि से यह सम्मेलन इसलिए सफल माना जाता है कि यहां समुदाय की ओर से आवाज उठी थी। उसकी आवाज सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा आयोजित सम्मेलन में भी गूंजी। लोगों की आवाज इतनी मुखर थी कि उन्हें दबाने के लिए सेना तक का इस्तेमाल करना पड़ा। यहां खाद्य संप्रभुता की बात बड़ी शिद्दत से उठाई थी स्वैच्छिक अभिक्रम में शामिल लोगों ने!) ■

कोपेनहेगन : समुदाय का स्वर और राष्ट्राध्यक्षों की जुगाली

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जलवायु संकट पर आयोजित विश्व सम्मेलन कोपेनहेगन में 8 दिसम्बर से 19 दिसम्बर 2009 तक संपन्न हुआ। इस सम्मेलन में भाग लेने दुनिया के 193 देशों के लगभग 15 हजार प्रतिनिधि कोपेनहेगन पहुंचे। सम्मेलन दो भागों में विभक्त था। संयुक्त राष्ट्र द्वारा आयोजित सम्मेलन कोपेनहेगन शहर से लगभग 6 किलोमीटर दूर बेलासेंटर में हो रहा था, वहीं स्वैच्छिक संगठनों द्वारा सम्मेलन का आयोजन कोपेनहेगन शहर के मुख्य सेंट्रल रेलवे स्टेशन के समीप क्लीमा फोरम में था।

बेलासेंटर, जहां, सत्ता और शासन का केंद्र बना हुआ था, वहीं क्लीमा फोरम स्वतंत्र और स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं का विचारस्थल था। बेलासेंटर में प्रवेश के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निर्धारित सूची के अंतर्गत कार्यकर्ताओं को निबंधन कार्ड लेना पड़ता था, वहीं क्लीमा फोरम में कोई भी शासक, सामाजिक कार्यकर्ता या व्यक्ति जाने और आने को स्वतंत्र थे। बेलासेंटर में ज्यों-ज्यों राष्ट्राध्यक्षों के आने की संख्या बढ़ती गई, त्यों-त्यों कोपेनहेगन की पुलिस और खुफिया विभाग सतर्क होते चले गए। हद तो तब हो गई जब 15 दिसम्बर को यह कह दिया गया कि बेलासेंटर में प्रवेश के लिए वह निबंधित कार्ड नहीं चलेगा जो पहले निर्गत कराया गया था। बल्कि इसके लिए अतिरिक्त कार्ड की व्यवस्था की गई है जो प्रत्येक संगठन के एक प्रतिनिधि को ही मिल सकेगा। यानी 15 दिसम्बर से बेलासेंटर में प्रवेश प्रतिबंधित कर दिया गया। जानकारी यह मिली कि महज 15 हजार लोगों में से 90 प्रतिनिधियों को ही अंदर प्रवेश का कार्ड मुहैया कराया गया। यह खबर चौंकाने वाली थी और 15 तारीख से ही विभिन्न जगहों पर गैर सरकारी और जनसंगठनों के प्रतिनिधियों की अलग-अलग बैठक शुरू हुई। लगभग सभी बैठकों में कोपेनहेगन पहुंचे

कार्यकर्ताओं में काफी गुस्सा देखा गया। कार्यकर्ता यहां तक कहते सुने गए कि सुरक्षा का यदि इतना ही भय था तो फिर प्रतिनिधियों को 19 दिसम्बर तक का प्रवेश कार्ड क्यों मुहैया कराया गया था? यह हमारे नागरिक अधिकारों की अवहेलना है। कई बैठकें हुईं जिनमें स्थानीय जनसंगठनों और स्वैच्छिक संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। क्लीमा फोरम में अलग- अलग जगह पर इसकी चर्चा होती रही और प्रतिनिधियों को अंदर जाने की छूट न मिलने के खिलाफ पूरा एन.जी.ओ. समूह दो भागों में विभक्त दिखा। एक समूह काफी विचार-विमर्श के बाद जहां इस निर्णय पर पहुंचा कि 16 दिसम्बर को बेलासेंटर के सामने विशाल प्रदर्शन कर अंदर घुसने की कोशिश की जाए। वहीं दूसरी तरफ कुछ स्वैच्छिक संगठन के प्रतिनिधियों ने यह निर्णय लिया कि गांधी के रास्ते पर अमल करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मुहैया कराया गया प्रवेश पत्र जिसका औचित्य संयुक्त राष्ट्र संघ ने खुद खत्म कर दिया है, की सार्वजनिक होली जलाई जाए।

16 दिसम्बर की सुबह कड़ाके की ठंड और बर्फबारी के बीच विभिन्न जगहों से पैदल चलते हुए प्रतिनिधिगण बेलासेंटर के सामने पहुंच गए और जोरदार नारे लगाने शुरू कर दिए - 'समुदाय की आवाज सुने बिना (देयर इज नो लेजिटिमेसी विदाउट कम्युनिटी) इस सम्मेलन का कोई औचित्य नहीं है।' काफी देर तक लोगों ने नारे लगाये, अपने-अपने वाद्य यंत्र बजाये और अपने-अपने देश की भाषा में गीत गाये। अंत में सभी ने उस गीत को दुहराया- जिसे दुनिया का महत्वपूर्ण गीत माना जाता है- 'वी शैल ओवर कम सम डे (हम होंगे कामयाब एक दिन)। कामयाबी का जोश इतना तेज था कि बर्फबारी की ठंड भी कमजोर पड़ गई। जलवायु संकट पर जीत हासिल करने की तमन्ना के साथ सभी देशों के प्रतिनिधियों ने वहां पर अपने बैच की होली जलाई। जल रही बैच के धुंए को पुलिस बर्दाश्त नहीं कर सकी और उन जलते हुए बैच को अपने बूट से कुचल डाला। पुलिस की यह बूट जल रहे बैच पर थी या संयुक्त राष्ट्र संघ के सीने पर? यह सवाल वहां की भीड़ में मंडरा रहा था।

दूसरी तरफ स्वैच्छिक संगठनों की दूसरी जमात ने क्लीमा फोरम से बेलासेंटर की ओर मार्च किया। हजारों रंग-बिरंगे झंडों के साथ लोग आगे

बढ़ते जा रहे थे। बेलासेंटर आते-आते युद्धस्थल का माहौल बन गया। एक तरफ हजारों की संख्या में पुलिस थी तो दूसरी तरफ हजारों प्रदर्शनकारी। चारों तरफ पुलिस की गाड़ी दौड़ रही थी और ऊपर से हैलिकॉप्टर गश्त लगा रहे थे। अंत में पुलिस और प्रदर्शनकारियों के बीच भिड़ंत हो ही गई। काफी सभ्य और सौम्य दिखने वाली पुलिस अपने पुलिसिया अंदाज में प्रकट हुई और प्रदर्शनकारियों को धुन डाला। कई प्रदर्शनकारियों के हाथ-पांव बांध कर बुरी तरह पीटा गया। अंततोगत्वा प्रदर्शनकारियों के अंदर घुसने के मनसूबे पर पानी फिर गया।

सत्ता की ताकत ने जनता की आवाज और जज्बे को दबा दिया। लेकिन क्या यह आवाज वास्तव में दब पाई - नहीं। प्रदर्शनकारियों की यह आवाज अंदर में भी गूंजी। कई देशों के प्रतिनिधियों ने भी कहा कि 'एनफ इज एनफ' - बहुत हो गया अब बंद होना चाहिए। जलवायु संकट के खिलाफ उठी समुदाय की आवाज के साथ कई राष्ट्राध्यक्षों ने अपनी आवाज मिलाई और कहा पूंजीवाद का विनाश हुए बिना क्लाइमेट जस्टिस संभव नहीं है। बेनिजुएला के राष्ट्रपति शावेज ने कहा - 'जलवायु संकट का दारोमदार उन विकसित देशों पर है जिन्होंने अपनी संपदा और संपत्ति को बढ़ाने के लिए दुनिया की प्रकृति को विनष्ट किया है। आज अगर पूंजीवाद अपने को बचाना चाहता है तो उसका पहला दायित्व है कि वे प्राकृतिक संपदा का अंधाधुंध दोहन बंद करें और उसे समुदाय के हाथ में सौंप दें।'

(कोपेनहेगन में दो सम्मेलन समानान्तर ढंग से चल रहे थे। 'बेला सेंटर' जो शहर से 6 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। वहां सत्ता प्रतिष्ठान के लोग जलवायु संकट पर गहन चर्चा कर रहे थे तो वहीं मुख्य शहर के 'क्लीमा पोस्ट' में असरकारी प्रतिनिधि जिनकी संख्या 40 हजार से अधिक थी, जलवायु संकट के समाधान के लिए विकसित देशों को जिम्मेवार मानते हुए समुदाय के चिंतन और जीवन शैली को बढ़ावा देने की बहस को गति प्रदान कर रहे थे। वहीं से दुनिया के सत्ताधीशों पर अपना दबाव बना रहे थे। समुदाय की आवाज उन तक पहुंचा रहे थे। कई राष्ट्राध्यक्षों ने इस बहस को सत्ता प्रतिष्ठान के मंच से उठाया भी। बेनुजुएला के राष्ट्रपति शावेज इस बहस को आकार दे रहे थे।) ■

जलवायु संकट : एक मालधारी की समझ

जलवायु संकट से उबरने के कई रास्ते हैं। इनमें से सबसे सटीक रास्ता संभवतः यह हो सकता है कि समुदाय के ज्ञान और उसकी जीवन पद्धति को सम्मान दिया जाए और आज के विकास की प्रक्रिया उनसे कुछ सीखने को तत्पर हो। परम्परा, प्रक्रिया और पद्धति के समायोजन से विकास का समोपयोगी रास्ता तलाशा जा सकता है और शायद यही रास्ता जलवायु संकट से उबरने का हो सकता है।

जलवायु संकट में धरती के गर्म होने, ग्लेशियर के पिघलने और मौसम में बेतहाशा परिवर्तन की प्रक्रिया पर अगर ध्यान दिया जाए तो यह साफ दिखता है कि पिछले ढाई-तीन सौ वर्षों के विनाशकारी विकास ने हमें यहां तक पहुंचा दिया है। विकास की अंधी दौड़ में शामिल होकर मनुष्य ने न तो प्रकृति के संतुलन को ध्यान में रखा और न ही मनुष्य और मानवेतर प्राणी के अन्योन्याश्रित संबंध को। विज्ञान और विकास के नाम पर उक्त संतुलन और सामंजस्य को तोड़ दिया गया। परिणामतः मनुष्य ने एक एकल इकाई के रूप में अपने को विकसित करने का अहंकार पाल लिया।

मनुष्य के इस अहंकार पर प्रकाश डालते हुए कोपेनेहेगन के एक होटल के कमरे में जयसिंह भाई बार-बार कहते हैं कि जो लोग जलवायु संकट से चिंतित हो कोपेनहेगन आए हैं उन्हें सबसे पहले इस अहंकार से मुक्त होना पड़ेगा। उन्हें समझना पड़ेगा कि मनुष्य पहले एक प्राकृतिक प्राणी है तब सामाजिक और राजनीति प्राणी। प्राकृतिक प्राणियों के संवेदनशील, स्वरशील और सृजनशील होने के नाते उनका यह दायित्व बन जाता है कि वह प्रकृति के साथ-साथ अन्य मानवेतर प्राणियों के बारे में भी गंभीरता से सोचे और उनके संरक्षण और संवर्द्धन की दिशा में सहज और सक्रिय रहे।

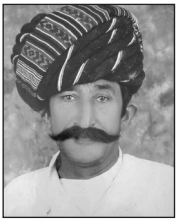

जयसिंह भाई

10 अक्तूबर, 1953 में जयसिंह भाई का जन्म हुआ था। गुजरात राज्य के मोड़वदर गांव उनका जन्म-स्थल है। गुजरात का रेगिस्तानी इलाका कच्छभुज उनका जिला है। अनजार उनका तालुका। तीसरी कक्षा तक पढ़े जयसिंह भाई की पत्नी करमीबेन उनसे 3 साल छोटी हैं। जयसिंह भाई की चार बहनें और दो भाई हैं। पिता अभुजीबार और माता जीवनी बेन की गोद में पल-बढ़ कर परम्परागत पेशे में रच-बस गए। 13 वर्ष की उम्र में ही उन्होंने पगड़ी बांधी और लाठी ले पिता के साथ भेड़ चराने निकल गए। 1966 से 1997 तक इन्होंने भेड़ें चराईं। इन 34 वर्षों में इन्होंने मध्य और दक्षिण भारत को भेड़ों की चाल से और अपने डग से नाप लिया। भुज होते हुए गुजरात के अहमदाबाद, राजपिपला, भरूच, बड़ौदा, सूरत, सोनगढ़, बयारा और अहबाडांग होते हुए राजस्थान के आबू, सिरोई, जालोर, बलोत्रा, समडेड़ी, रानी बाड़ा, बूंदी और कोटा होते हुए यू.पी. के झांसी, एम.पी. के ग्वालियर, झाबुआ, खरगौन, खंडवा होते हुए महाराष्ट्र के आदिलाबाद, माले गांव, अमरावती, आकेट, तुमसर, भंडारा, गढ़चिरौली, चन्द्रपुर, असीफाबाद, जनाराम, मंदामारी, मंचरीमाल, करीम नगर, नीरमढ़ होते हुए आंध्र प्रदेश के आदिलाबाद की यात्रा भेड़ के झुंड के साथ करते थे और फिर यह यात्रा वापसी की ओर मुड़ जाती थी, जो पावरकेवड़ा, माटुर, किनवट, नान्देड़, हिंगोली, परवनी, औरंगाबाद, जालना, साकरी घाट, नन्दुरवार, सोनघटब्यारा, बलिया, मांडवी होते हुए सूरत और फिर कच्छ-भुज तक पहुंचती थी।

जयसिंह भाई अपने को 'मालधारी' कहते हैं और इस यात्रा को 'जीविका यात्रा'। अनुभवों के खजाने से भरे जयसिंह भाई जब अपनी धारदार मूंछों के बीच मुस्कराते हैं तब लगता है कि उनके होंठ के ऊपर केले के पत्ते डोल रहे हैं। जब मुस्कराते हैं तब लगता है सघन वन में पवन थिरक रहा है। और जब अपनी पगड़ी को संभालते हैं तब लगता है सर के ऊपर पूनम का चांद उतर आया है। सामान्य कद के जयसिंह भाई जब अपनी धोती, जैकेट, पगड़ी और चादर में लिपटे होते हैं तब रेगिस्तान में विचरते कोई देवदूत-से दिखते हैं।

जयसिंह भाई कहते हैं - चारा, पानी, जंगल, जमीन, भेड़ और मैं एक दूसरे में रचे बसे हैं। यह हमारी आजीविका भी है और हमारा जीवन भी। इसी

आजीविका चक्र से हम 'मालधारियों' का जीवन चलता-सजता और संवरता है। इनमें से किसी एक को अलग कर देना प्रकृति के उस सामंजस्य की पूरकता को तोड़ना है जो हमें प्राकृतिक विरासत और सांस्कृतिक धरोहर के रूप में मिला है। हमारा समाज अहिंसक समाज है। परंतु आजीविका चलाने के लिए भेड़ के बड़े-बड़े बच्चों को हम सब बेचते भी हैं। भेड़ से हमें न सिर्फ बच्चे (मेमने) मिलते हैं बल्कि ऊन, दूध भी मिलते हैं। भेड़ के मल और पेशाब में इतनी उर्वराशक्ति होती है कि उसके सामने सभी प्रकार की रासायनिक खादें फीकी पड़ जाती है। किसान अपनी जमीन में भेड़ को बिठाने के लिए प्रति भेड़ प्रति रात 1 रुपया तक देते हैं। किसान जमीन की जरूरत के अनुसार भेड़ अपने खेतों में बिठाते हैं। जयसिंह भाई का कहना है कि इससे खेतों की फसल में दोगुनी-तिगुनी वृद्धि होती है और उन खेतों में दो वर्ष तक किसी भी प्रकार की खाद डालने की जरूरत नहीं पड़ती। उन्होंने मालधारी अर्थशास्त्र को समझाते हुए कहा कि यह व्यवसाय अगर हम जीवन पद्धति के रूप में स्वीकार करते हैं तो इसका मुनाफा और मुनाफे के लिए लगाया गया श्रम एक ऐसा आनंद पैदा करता है जिसे कीमतों में नहीं आंका जा सकता। आनंद की कोई कीमत हो भी नहीं सकती। आज का अर्थशास्त्र मुनाफा पर तो ध्यान देता है लेकिन जीवन के रस और आनंद चूस लेता है। इसीलिए आज का जीवन अर्थकेन्द्रित जीवन बन गया है। परिणामतः न भोजन में रस और स्वाद है और न जीवन में खुशी और आनंद। मुद्रा से जीवन को सुखी बनाया जा सकता है लेकिन जीवन तो रस से ही प्लावित होता है। जीवन का रस सूख जाने से इन्सान यंत्रवत् बन जाता है। भेड़, उनके बच्चे, उनके दूध और उनकी आवाज हमें रस-संगीत और सुगंध व आनंदातिरेक से भर देते हैं। इस अन्योन्याश्रय संबंध को तोड़ना जलवायु संकट को न्यौता देना है। क्या कोपेनहेगन में आए विशेषज्ञ संवेदना के इस हद तक संवेदित हैं? अगर नहीं तो जलवायु संकट पर बात करना महज पेड़ के पत्तों पर बात करने जैसा है न कि जड़ों की गहराई और स्पन्दन तक पहुंचना है।

जयसिंह भाई कहते हैं कि हम जब भेड़ चराने की यात्रा पर निकलते हैं तो हमारे साथ इस जीवन यात्रा चक्र में लगभग पूरा परिवार साथ रहता है- पत्नी, बाल-बच्चे समेत चलने लायक प्रौढ़ तक। नहीं चलने लायक बुजुर्गों

को हम सब घरों की देख-भाल के लिए छोड़ जाते हैं। वे कहते हैं कि प्रति भेड़ में आधा किलो दूध प्रतिदिन मिलता है। वर्ष में डेढ़ किलो ऊन प्रति भेड़ से निकल आता है, जिसकी कीमत बाजार में अभी 90 रुपया के आस-पास है। 6 माह के घेंटे को (बच्चा को) बेचने पर 2000 रु. मिलते हैं। साथ में दो बच्चे प्रति भेड़ मिलते हैं। यह आजीविका की पद्धति है न कि नौकरी और रोजगार की। नौकरी और रोजगार अमूमन अपनी मर्जी, अपने हुनर और अपनी जरूरत की पूर्त्ति भर के लिए नहीं होता बल्कि दूसरे की इच्छा, दूसरे की जरूरत और दूसरे के कौशल से बनाए मार्ग पर चलकर अपनी जरूरतों की पूर्ति को उसके आधार पर ढालना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हम अपने पांव को बने बनाए जूतों में ढालने, डालने और चलने को विवश होते हैं। यहां आदमी अपनी स्वाभाविकता और अपनी चपलता खो देता है। गिरते हुए बर्फ के फुहारों को खिड़की से बाहर झांकते हुए जयसिंह भाई खिलखिलाते हैं तो उनके सफेद दांत बर्फ के समान चमकने लगते हैं। अपने अतीत में गोता लगाते हुए अनायास उनकी आंखों से आंसू झरने लगते हैं, गला रूंध जाता है, स्वर स्थिर हो जाता है। कुछ क्षण रुक कर अंगोछे से आंसू पोंछते हैं और कहने लगते हैं- इंसान ने अपने स्वार्थ के लिए सब कुछ गंवा दिया- जीवन, रिश्ता, संबंध, रस, आनंद सब कुछ। मेरी आंखें भी नम हो आती हैं और मन अतीत में चला जाता है। बचपन से लेकर युवावस्था तक इन भेड़ चराने वालों को नजदीक से देखा और समझा है। ठिठुरती रात में आसमान के नीचे कम्बल से लिपटे हुए बरसात में मूसलाधार बारिश के बीच कम्बल की ओट में अपने को बचाते हुए तथा चिलचिलाती धूप में कम्बल के सहारे लू से लड़ते हुए अनेक दृश्य दृश्यमान हो उठते हैं और लगता है की इन्हीं में से एक व्यक्ति हैं- जयसिंह भाई। सहजता, सरलता और संवेदनाओं से ओत-प्रोत प्रतिमूर्ति की तरह दिखते हैं- जयसिंह। वे कहते हैं कि भेड़ों को प्यार से रखते थे। बच्चों की तरह उनकी आंख, नाक और कान साफ करते थे। कभी-कभार मैं भूखा रह जाता था लेकिन इन्हें भूखा नहीं रहने देता था। पशु हमारे लिए भगवान के समान हैं। उनकी आंखें फिर छलछला उठती हैं। फफककर कहते हैं-चारा और चारागाह के अभाव में सब कुछ छोड़ना पड़ा। विकास की मार इतनी तीव्र हुई कि जंगल समाप्त होते गए, चारे समाप्त होते

गए, चारागाह उजड़ गया, चरवाहे बिलट गए, ईमानदारी की जिन्दगी अब मुनाफे की बेईमानी में बदलने लगी। लाखों की सम्पत्ति जिसे हम छूते तक नहीं थे, अब लखपति बनने में सब कुछ बिसरा गए, और यहीं से खत्म हुई हमारी चरवाही की जिन्दगी।

आज मैं चरवाहा नहीं हूं। भेड़-बकरियां अब नहीं के बराबर हैं। पर इन चरवाहों की आवाज बनकर आज कोपेनहेगन आया हूं। क्या इस चरवाहे की आवाज कोपेनहेगन में सुनी जाएगी? यह महज एक चरवाहे की आवाज नहीं बल्कि यह सम्पूर्ण चरवाहा समाज की आवाज है। यह सिर्फ आवाज ही नहीं, हमारी पीड़ा भी है, हमारा दर्द भी। क्या यहां आए हजारों लोग इस आवाज को सुन पाएंगे? इस पीड़ा को महसूस कर सकेंगे? अगर हां तो यहीं से शुरू होगी- जलवायु संकट पर विजय की यात्रा। अगर नहीं तो यहीं से प्रारंभ होगा- जलवायु संकट का घनीभूत दौर।

(यह आम आदमी की समझ है जलवायु संकट के संदर्भ में। जलवायु संकट को विशेषज्ञों का विषय बना देने का एक सुनियोजित प्रयास पूरी दुनिया में जारी है। जैसे 70 के दशक में पर्यावरण की बहस को बना दिया गया था। लेकिन बाद के दिनों में आम लोगों के बीच कार्यरत कार्यकर्ताओं ने तथा आमजनों ने इस विषय को आमजीवन से जोड़कर यह साबित कर दिया कि पर्यावरण के असुंतलन से आमजन और अंतिमजन सबसे ज्यादा प्रभावित होता है। बाद के दिनों में पर्यावरण की बहस का केन्द्र संसाधन और आम जीवन बन गया। आज यही स्थिति जलवायु संकट की है। वास्तव में इस समस्या का समाधान ढूंढना हो तो जयसिंह भाई जैसे-चरवाहे की व्यथा कथा में ढूंढा जा सकता है। आम आदमी जलवायु संकट को कैसे देखता है? जलवायु संकट का समाधान कैसे खोजता है? जलवायु संकट के पीछे मूल कारण क्या है? जयसिंह भाई ने अपनी समझ से इस संकट को समझाने की कोशिश की है। जयसिंह भाई एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था 'क्रिश्चियन एड' के एक प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने कोपेनहेगन पहुंचे थे। वहीं पर उनसे यह साक्षात्कार लिया गया था।)

■■■

जलवायु संकट आज की दुनिया के बड़े संकटों में से एक है। इसके समाधान के लिए पूरी दुनिया की सरकारें, यू.एन. जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं तथा अन्य स्वैच्छिक संस्थाएं न सिर्फ चिंतित हैं बल्कि चिंतनरत भी हैं। चिंतन का यह दौर पिछले ढाई दशक से जारी है बावजूद इसके संकट घटने के मुकाबले बढ़ता ही जा रहा है। क्यों हो रहा है ऐसा? क्या चिंतन की दशा और दिशा में तो कहीं दोष नहीं है? उक्त प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व यह विचार करना जरूरी लगता है कि जलवायु संकट के लिए जिम्मेवार कारकों को क्या हमने पहचानने की कोशिश की है? क्या महज विकसित देशों के नजरिये और कथित वैज्ञानिक ढंग से देखने को पहचानना माना जाएगा या फिर इसे और गंभीरता से समझने की जरूरत है?

संवाद
उर्मिला इन्कलेव, पीस रोड, लालपुर, रांची - 834001